।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

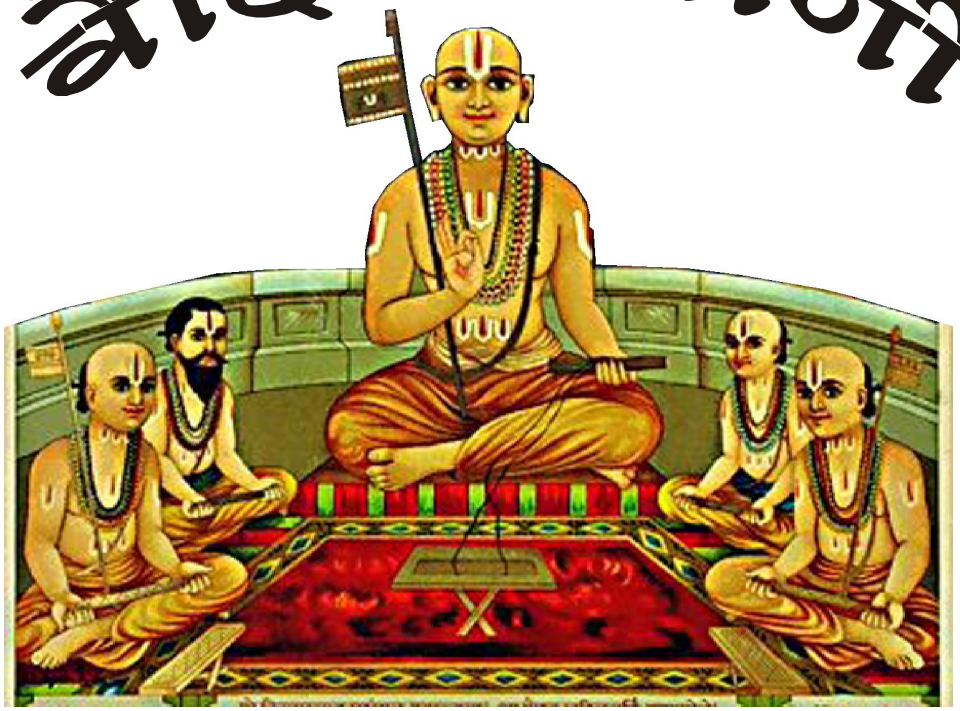

वर्ष- २९ सन्- २०१७ ई०	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अंक- ४ रामानुजाब्द १००० त्रैमासिक प्रकाशन

न देहं न प्राणन्न च सुखमशेषाभिलषितं न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात् ।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम् ।।

अर्थात् हे नाथ! आपके दासत्व रूपी ऐश्वर्य को छोड़कर मैं क्षण मात्र के लिए भी देह, प्राण, सर्वजन वांछित सुख, आत्मा या अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता। ये सभी सैकड़ों प्रकार से विनष्ट हो जायँ। हे नाथ! हे मधुसूदन! यह सत्य है, यही मेरा आपके श्रीचरणों में निवेदन है ।।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

क्रम सं०	विषय	पृ०सं०
१.	वैदिक-वाणी	३
२.	युगानुरूप श्रीभगवान् की उपासना	४
३.	एक तितिक्षु ब्राह्मण	६
४.	सत्वादि गुणों के अनुसार मनुष्य की मनोवृत्ति	८
५.	भागवतधर्म का रहस्य	१०
६.	विष्णुसहस्रनाम के (२५१-३००) नामों का विशद् भाष्य (हिन्दी में)	१२
७.	स्तोत्ररत्नम्	१९
८.	नारियों के लिए पातिव्रत्य धर्म श्रेयस्कर है	२३
९.	विवाहमुहूर्त्त	२५
१०.	नेत्ररोग निवारक मन्त्र	२६
११.	श्रीकुलशेखर-आलवार	२७
१२.	सर्वोपयोगी कल्याण का मार्ग	३२
१३.	काम ही मानव का शत्रु है	३३
१४.	कौशिक ने समझा धर्म का मर्म	३४
१५.	सीताजी की स्तुति	३७
१६.	श्रीवैष्णवव्रत निर्णय तालिका २०१८-१९	४०

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।
२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) ४५ रुपये तथा आजीवन सदस्यता ५०१ रुपये मात्र हैं।
३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।
४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।
५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—सम्पादक

वैदिक-वाणी

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।

जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् देखने सुनने में आ रहा है, वह सब-का-सब सर्वाधार, सर्व-नियन्ता, सर्वाधिपति, सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्व कल्याण गुणस्वरूप परमेश्वर से व्याप्त है, सदा सर्वत्र उन्हीं से परिपूर्ण है। यह समझ कर उन ईश्वर को निरन्तर अपने साथ रहते हुए मानव सदा सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही इस जगत् में ममता और आसक्ति का त्याग करके केवल कर्त्तव्यपालन के लिए ही विषयों का यथाविधि उपयोग करे अर्थात् विश्वरूप ईश्वर की पूजा के लिए ही कर्मों का आचरण करे। विषयों में मन को नहीं फँसने दें, इसी से तुम्हारा निश्चित कल्याण है। वस्तुतः ये भोग्य पदार्थ किसी के भी नहीं है। मनुष्य भूल से ही इनमें ममता और आसक्ति कर बैठता है। ये सब परमेश्वर के हैं और उन्हीं की प्रसन्नता के लिए उपभोग करना चाहिए।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

सर्व शक्तिमान परमेश्वर का सतत स्मरण करते हुए उन्हीं की पूजा के रूप में कर्त्तव्य कर्म का आचरण करें। सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करते हुए स्व कर्त्तव्यों का पालन करें। जीवन निर्वाह करना केवल परमेश्वर की पूजा के लिए ही है, अपने लिए नहीं भोग भोगने के लिए नहीं। इस तरह से करने पर कर्मबन्धन कारक नहीं होता। कर्म करते हुए कर्मों से लिप्त न होने का यही एक मार्ग है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

मानव शरीर अन्य सभी शरीरों से श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है; क्योंकि यह विवेक प्रधान है। अन्यान्य शरीरों से जीवकर्म फल भोगने को विवश होता है किन्तु मानव तन द्वारा अपने सद्विवेक का उपभोग कर जीव कर्म अपने सद्कर्म से परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसलिए जीव को भगवान् की विशेष कृपा से जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्र से तरने के लिए मानव तन मिलता है। ऐसे शरीर को पाकर भी जो मनुष्य अपने कर्मसमूह को ईश्वर-पूजा के लिए समर्पण नहीं करता और कामोपभोग को ही जीवन का परम ध्येय मानकर विषयों की आसक्ति और कामनावश जिस-किसी प्रकार से भी केवल विषयों की प्राप्ति और उनके यथेच्छ उपभोग में ही लगा रहता है, वह वस्तुतः आत्मा की हत्या करने वाला ही है; क्योंकि इस प्रकार अपना पतन करने वाले वे लोग अपने जीवन को केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं बल्कि अपने को और भी अधिक कर्मबन्धन में जकड़ रहे हैं। इन काम-भोग-परायण लोगों को चाहे वे कोई भी क्यों न हों, उन्हें चाहे संसार में कितने ही विशाल नाम, यश, वैभव या अधिकार प्राप्त हो, मरने के बाद कर्मों के फलस्वरूप बार-बार उन कूकर-शूकर, कीत-पतङ्गादि विभिन्न शोक-संतापपूर्ण आसुरी योनियों में और भयानक नरकों में भटकना पड़ता है। इसलिए मानव को चाहिए कि संसार चक्र के बन्धन से विमुक्त होने के लिए सांसारिक भोग को सात्विक बुद्धि के साथ निष्काम भाव से उपयोग करे। अन्यथा मानव तन प्राप्त करना व्यर्थ हो जाता है।

युगानुरूप श्रीभगवान् की उपासना

करभाजन योगीश्वर ने राजा निमि से कहा कि चार युग हैं–सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। इन युगों में भगवान् के अनेक रङ्ग, नाम और आकृतियाँ होती हैं तथा विभिन्न विधियों से उनकी पूजा की जाती है। सतयुग में भगवान् के श्रीविग्रह का रङ्ग होता है–श्वेत। उनके चार भुजाएँ और सिर पर जटा होती है तथा वे वल्कल का ही वस्त्र पहनते हैं। काले मृग का चर्म, यज्ञोपवीत, कमलाक्ष की माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करते हैं। सत्ययुग के मनुष्य बड़े शान्त, परस्पर वैर-रहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं। वे लोग इन्द्रियों और मन को वश में रखकर ध्यान रूप तपस्या के द्वारा सबके प्राकाशक परमात्मा की आराधना करते हैं। वे लोग हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामों के द्वारा भगवान् के गुण, लीला आदि का गान करते हैं।

त्रेतायुग में भगवान् के श्रीविग्रह का रङ्ग लाल होता है। चार भुजाएँ होती हैं और कटि भाग में वे तीन मेखला धारण करते हैं। उनके केश सुनहले होते हैं और वे वेदप्रतिपादित यज्ञ के रूप में रहकर स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञ-पात्रों को धारण किया करते हैं। उस युग के मनुष्य अपने धर्म में बड़ी निष्ठा रखने वाले और वेदों के अध्ययन-अध्यापन में बड़े प्रवीण होते हैं। वे लोग ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद रूप वेदत्रयी के द्वारा सर्वदेव स्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरि की आराधना करते हैं। त्रेतायुग में अधिकांश लोग विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम वृषाकपि, जयन्त और उरूगाय आदि नामों से उनके गुण और लीला आदि का कीर्तन करते हैं।

राजन्! द्वापर युग में भगवान् के श्रीविग्रह का रंग होता है साँवला। वे पीताम्बर तथा शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने आयुध धारण करते हैं। वक्षः-स्थल पर श्रीवत्स का चिह्न, भृगुलता कौस्तुभमणि आदि लक्षणों से वे पहचाने जाते हैं। उस समय जिज्ञासु मनुष्य महाराजों के चिह्न छत्र-चँवर आदि से युक्त परमपुरुष भगवान् की वैदिक और तान्त्रिक विधि से आराधना करते हैं। वे लोग इस प्रकार भगवान् की स्तुति करते हैं—हे ज्ञानस्वरूप भगवान् वासुदेव एवं क्रिया शक्तिरूप सङ्कर्षण! हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। भगवान् प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में हम आपको नमस्कार करते हैं। ऋषि नारायण महात्मा नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप और सर्वभूतात्मा भगवान् को हम नमस्कार करते हैं। राजन् द्वापर युग में इस प्रकार लोग जगदीश्वर भगवान् की स्तुति करते हैं।

अब कलियुग में अनेक तन्त्रों के विधि विधान से भगवान् की जैसी पूजा की जाती है, उसका वर्णन सुनो—कलियुग में श्रीभगवान् का श्रीविग्रह होता है–कृष्णवर्ण का। जैसे नीलम मणि से उज्ज्वल कान्ति की धारा निकलती रहती है, वैसे ही उनके अङ्ग की छटा भी उज्ज्वल होती है। वे हृदय आदि अङ्ग कौस्तुभ आदि उपाङ्ग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृत पार्षदों से संयुक्त रहते हैं। कलियुग में श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञों के द्वारा उनकी आराधना करते हैं। जिनमें नाम गुण, लीला आदि के कीर्तन की प्रधानता रहती है।

ध्येयं सदा परिभवहनमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।

वे लोग भगवान् की स्तुति इस प्रकार करते हैं—प्रभो! आप शरणागत रक्षक हैं। आपके चरणार-विन्द सदा-सर्वदा ध्यान करने योग्य अत एव माया-मोह के कारण होने वाले सांसारिक पराजयों

का अन्त कर देने वाले तथा भक्तों की समस्त अभीष्ट वस्तुओं का दान करने वाले कामधेनु स्वरूप हैं। वे तीर्थों को भी तीर्थ बनाने वाले स्वयं परम तीर्थ-स्वरूप हैं, शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं और चाहे जो कोई उनकी शरण में आ जाय उसे स्वीकार कर लेते हैं। सेवकों की समस्त आर्ति और विपत्ति के नाशक तथा संसार-सागर से पार जाने के लिए जहाज हैं। हे महापुरुष! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।

हे भगवन् आपके चरणकमलों की महिमा कौन कहे, रामावतार में अपने पिता दशरथ जी के वचनों से देवताओं के लिए भी वांछनीय और दुस्त्यज राज्यलक्ष्मी को छोड़कर आपके चरण-कमल वन में घुमते फिरते रहे। सचमुच आप धर्मनिष्ठता की सीमा हैं और हे महापुरुष! अपनी प्रेयसी सीताजी के चाहने पर जान-बुझकर आपके चरणकमल मायामृग के पिछे दौड़ते रहे। सचमुच आप प्रेम की सीमा हैं। प्रभो! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ।

राजन्! इस प्रकार विभिन्न युगों के लोग अपने-अपने युग के अनुरूप नाम-रूप द्वारा विभिन्न प्रकार से भगवान् की आराधना करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–सभी पुरुषार्थों के एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीहरि ही हैं। कलियुग में केवल सङ्कीर्तन से ही सारे स्वार्थ और परमार्थ बन जाते हैं। इसलिए इस युग का गुण जानने वाला सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुग की बड़ी प्रशंसा करते हैं, इससे बड़ा प्रेम करते हैं। देहाभिमानी जीव संसार-चक्र में अनादि काल से भटक रहे हैं। उनके लिए भगवान् की लीला, गुण और नाम के कीर्तन से बढ़कर और कोई परम लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसार में भटकना मिट जाता है और परम शान्ति का अनुभव होता है।

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।।

राजन्! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर की प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुग में हो; क्योंकि कलियुग में कही-कहीं भगवान् नारायण के शरणागत उन्हीं के आश्रय में रहने वाले बहुत से भक्त उत्पन्न होंगे।

क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः।।

महाराज विदेह! कलियुग में द्रविड़ देश में अधिक भक्त पाये जाते हैं। जहाँ ताम्रमर्णी, कृत-माला, पयस्विनी, परम पवित्र कावेरी, महानदी और प्रतीची नामकी नदियाँ बहती हैं। राजन्! जो मनुष्य इन नदियों का जल पीते हैं, प्राय: उनका अन्त:करण शुद्ध को जाता है और वे भगवान् वासुदेव के भक्त हो जाते हैं।

राजन्! 'जो मनुष्य यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'–इत्यादि कर्म-वासनाओं का अथवा भेद-बुद्धि का परित्याग करके सर्वात्मभाव से शरणागत वत्सल, प्रेम के वरदानी भगवान् मुकुन्द की शरण में आ गया है। वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियों के ऋण से उऋण हो जाता हैं, वह किसी के अधीन, किसी का सेवक, किसी के बन्धन में नहीं रहता।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः।।

जो प्रेमी भक्त अपने प्रियतम भगवान् के चरण-कमलों का अनन्य भाव से, दूसरी भावनाओं, आस्थाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियों को छोड़कर भजन करता है। उससे पहली बात तो यह कि पापकर्म होते ही नहीं; परन्तु यदि कभी किसी प्रकार हो भी जाएँ तो परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसके हृदय में बैठकर वह सब धोकर बहा देते हैं और उसके हृदय को शुद्ध कर देते हैं।

●

एक तितिक्षु ब्राह्मण

भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा कि इस संसार में प्राय: ऐसे सन्त पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनों की कटु वाणी से बिंधे हुए अपने हृदय को संभाल सके। मनुष्य का हृदय मर्मभेदी बाणों से बिंधने पर भी उतनी पीड़ा का अनुभव नहीं करता, जितनी पीड़ा उसे दुष्टजनों के मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं। उद्धवजी इस विषय में महात्मा लोग एक बड़ा पवित्र प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, मैं वही तुम्हें सुनाऊँगा, तुम मन लगाकर उसे सुनो—

एक भिक्षुक को दुष्टों ने बहुत सताया था। उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसे अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल समझकर कुछ अपने मानसिक उद्‌गार को प्रकट किया था। उन्हीं का इस इतिहास में वर्णन है। प्राचीन समय की बात है—उज्जैन में एक ब्राह्मण रहता था। उसने खेती-व्यापार आदि करके बहुत-सा धन-सम्पत्ति इकट्ठा कर ली थी। वह बहुत ही कृपण, कामी और लोभी था। क्रोध तो उसे बात-बात पर आ जाया करता था। उसने अपने जाति, बन्धु और अतिथियों को कभी मीठी बात से भी प्रसन्न नहीं किया, खिलाने-पिलाने की तो बात ही क्या है। वह धर्म-कर्म से कभी घर में नहीं रहता और स्वयं भी अपनी धन-सम्पत्ति के द्वारा समय पर अपने शरीर को भी सुखी नहीं करता था। उसकी कृपणता और बुरे स्वभाव के कारण उसके बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी आदि सभी दु:खी रहते और मन ही मन उसका अनिष्ट चिन्तन किया करते थे। कोई भी उसके मन को प्रिय लगने वाला व्यवहार नहीं करता था। वह लोक-परलोक दोनों से गिर गया था। बस, यक्षों के समान वह धन की रखवाली करता रहता था। उस धन से वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था।

बहुत दिनों तक इस प्रकार जीवन बिताने से उस पर पञ्चमहायज्ञ के भागी देवता बिगड़ उठे। उदार उद्धव जी! पञ्चमहायज्ञ के भोगियों के निरन्तर तिरस्कार से उसके पूर्वजन्मों के पुण्यों का सहारा जिसके बल से अब तक वह धन टिका हुआ था वह भी जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रम से इकट्ठा किया था वह धन उसकी आँखों के सामने ही नष्ट हो गया। उस नीच ब्राह्मण का कुछ धन तो उसके कुटुम्बियों ने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये। कुछ आग लग जाने आदि दैवी कोप से नष्ट हो गया, कुछ समय के फेर से चला गया। कुछ साधारण मनुष्यों ने ले लिया और बचा खुचा भी दण्ड रूप में शासकों ने हड़प लिया।

उद्धव जी! इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी। न उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे। इधर उसके सगे सम्बन्धियों ने भी उसकी ओर से मुँह मोड़ लिया। अब उसे बड़ी भयानक चिन्ता ने घेर लिया। धन के नाश से उसके हृदय में बड़ी जलन हुई। उसका मन खेद से भर गया।

आँसुओं के कारण गला रूँध गया; परन्तु इस तरह चिन्ता करते-करते ही उसके मन में संसार के प्रति महान् दु:खबुद्धि और उत्कट वैराग्य का उदय हो गया। अब वह ब्राह्मण मन ही मन कहने लगा—हाय! हाय!! बड़े खेद की बात है, मैंने इतने दिनों तक अपने को व्यर्थ ही इस प्रकार सताया। जिस धन के लिए मैंने सरतोड़ परिश्रम किया, वह न तो धर्मकर्म में लगा और न मेरे सुखभोग के ही काम आया।

प्राय: देखा जाता है कि कृपण पुरुषों को धन से कभी सुख नहीं मिलता। इस लोक में तो वे धन कमाने और रक्षा की चिन्ता से जलते रहते हैं और मरने पर धर्म न करने के कारण नरक में जाते हैं। जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्ग सुन्दर स्वरूप को बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियों के शुद्ध यश और गुणियों के प्रशंसनीय गुणों पर पानी फेर देता है। धन कमाने में, कमा लेने पर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करने में तथा उसके नाश और उपभोग में–जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार भेद बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब–ये पन्द्रह (१५) अनर्थ मनुष्यों में धन के कारण ही माने गये हैं। इसलिए कल्याणकामी पुरुष को चाहिए कि स्वार्थ एवं परमार्थ के विरोधी अर्थनामधारी अनर्थ को दूर से ही छोड़ दे।

भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी जो स्नेह बन्धन से बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं–सब-के-सब कौड़ी (पैसे) के कारण इतने फट जाते हैं कि तुरन्त एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। ये लोग थोड़े से धन के लिए भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं। बात-ही बात में सौहार्द सम्बन्ध छोड़ देते हैं और एकाएक प्राण लेने-देने पर उतारू हो जाते हैं। यहाँ तक कि एक-दूसरे का सर्वनाश कर डालते हैं। देवताओं के भी प्रार्थनीय मनुष्य जन्म को और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण शरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थ का नाश करते हैं, वे अशुभ गति को प्राप्त होते हैं। यह मनुष्य शरीर मोक्ष और स्वर्ग का द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनर्थों के धाम धन के चक्कर में फँसा रहे।

जो मनुष्य, देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति, भाई, कुटुम्बी और धन के दूसरे भागीदारों को उनका भाग देकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यज्ञ के समान धन की रखवाली करने वाला कृपण तो अवश्य ही अधोगति को प्राप्त हो होता रहता है।

मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत हो गया हूँ, मैंने प्रमाद में अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये। विवेकी लोग जिन साधनों से मोक्ष तक प्राप्त कर लेते हैं उन्हीं को मैंने धन इकट्ठा करने की व्यर्थ चेष्टा में खो दिया। अब बुढ़ापे में मैं कौन-सा साधन करूँगा। मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धन की व्यर्थ तृष्णा से निरन्तर क्यों दु:खी रहते हैं? हो न हो अवश्य ही यह संसार किसी की माया से अत्यन्त मोहित हो रहा है।

यह मनुष्य शरीर काल के विकराल गाल में पड़ा हुआ है। इसको धन से, धन देने वाले देवताओं से, भोगवासनाओं और उनको पूर्ण करने वालों से तथा पुन: पुन: जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले सकाम कर्मों से लाभ ही क्या है?

इसमें संदेह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप श्रीभगवान् मुझ पर प्रसन्न हैं। तभी तो उन्होंने मुझे इस दशा में पहुँचाया है। इसके बाद वह शान्त होकर मौनी संन्यासी हो गया। इस तरह अपने मन एवं इन्द्रियों को वश में करके पृथ्वी पर स्वच्छन्द रूप से विचरने लगा। लोग इसे पहचानते नहीं और तरह-

तरह की प्रताड़ना करते। कोई कमण्डल उठा लेता, तो कोई उसका लंगोटी ले भागता, कभी कोई उसे पिंजड़े की पक्षी की भाँति घर में बन्द कर देता। ब्राह्मण कहता कि मेरे दु:ख-सुख का कारण न मनुष्य है, न देवता, न शरीर, न ग्रह, कर्म एवं काल आदि। बल्कि मन ही इसका परम कारण है। मन बहुत बलवान् है और वही समस्त चेष्टाएँ करता है। आत्मा उसके साथ रहने पर निष्क्रिय हो जाती है।

सत्वादि गुणों के अनुसार मनुष्य की मनोवृत्ति

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता: ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।

(गीता)

भगवान् उस ज्ञान का उपदेश करने जा रहे हैं जिस ज्ञान को प्राप्त करके उसके प्रभाव से ज्ञानी पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध से मुक्त होकर ब्रह्म के समान बन जाते हैं। उनका वास वैकुण्ठ में होता है। वैसे पुरुष न इस सृष्टि में जन्म लेते हैं और न प्रलयकाल में दु:खी होते हैं; क्योंकि परमधाम वैकुण्ठ में गये हुए जीवों की पुनरावृत्ति नहीं होती है। जब भगवल्लोक में गये हुए जीव संसार में आते ही नहीं है तब उनका जन्म और मरण भी कैसे हो सकता है?

संसार में जिस किसी की भी सृष्टि होती है उसमें जड़ और चेतन का संयोग कारण है। उनका संयोग कराने वाले श्रीभगवान् हैं। महत् रूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण प्रपञ्च का कारण है। उसी महत् रूप मूल प्रकृति का ब्रह्म शब्द से वर्णन किया गया है। 'मुण्डकोपनिषद्' में ब्रह्म शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

महत् रूप प्रकृति में भगवान् जीवरूप बीजों का गर्भाधान करते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि अपरा प्रकृति और जीव परा प्रकृति है। भगवान् के सङ्कल्प से अपरा और परा प्रकृति का संयोग होता है। उससे ब्रह्मा से कीटाणुपर्यन्त समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रकृति के साथ जीव का कर्मानुसार सम्बन्ध करना ही गर्भाधान है।

'अहं बीजप्रद: पिता' देव, मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष, पशु, पक्षी आदि सभी योनियों में जिस-जिस प्रकार के आकार होते हैं, उन सबका कारण महद् ब्रह्म (महत्तत्त्व) है। उसी को अव्यक्त और प्रधान भी कहते हैं। वही पृथिव्यादि रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति सबों के लिए माता स्थानीय है। भगवान् कर्मानुसार जीव को जड़ प्रकृति के साथ संयोग कराते हैं। यद्यपि पिता के वीर्य से सबों की उत्पत्ति होती है। फिर भी उसमें जीव का संयोग परमात्मा के द्वारा ही कराया जाता है। इसलिए सबों के जीवरूप बीज प्रदान करने वाले पिता भगवान् ही हैं।

जब प्रलय के समय सूक्ष्मावस्था में प्रकृति रहती है, तब (उस समय) सत्त्वादि तीनों गुण अप्रकट रहते हैं और जब सृष्टि काल में सूक्ष्म प्रकृति स्थूल अवस्था को धारण करती है, तब सत्त्वादि गुण प्रकट हो जाते हैं। इसीलिए तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न कहे गये हैं। यद्यपि जीवात्मा स्वाभाविक सत्त्वादि गुणों से रहित है, फिर भी देव, मनुष्यादि प्राकृत शरीरों में रहने के कारण उसमें प्रकृतिगत सत्त्वादि गुणों का सम्बन्ध हो जाता है–ये तीनों गुण क्रमश: प्रकाश, लोभ और मोह रूप अपने-अपने

कार्यों से जीव को बाँधते हैं।

सत्त्वगुण से लौकिक सुख और ज्ञान उत्पन्न होते हैं। उससे मानव में सुख एवं ज्ञान के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। उससे मानव संसार के बन्धन में पड़ जाता है। इसलिए सत्त्वगुण उसके लिए सोना की बेड़ी के समान है। जैसे सोना की बेड़ी भी मानव को कष्टकारक ही होता है, उसी प्रकार सत्त्वगुण मानव को सांसारिक सुखों में फँसाकर भगवद्दर्शन रूप परम सुख से वञ्चित रखता है।

रजोगुण राग स्वरूप होने के कारण तृष्णा और आसक्ति को उत्पन्न करने वाला है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन विषयों को प्राप्त करने की चाह को तृष्णा कहते हैं। मित्र-पुत्र आदि सम्बन्धियों में स्पृहा ही आसक्ति है। मानव स्पृहा और तृष्णावशात् पुण्य और पापमय सकाम कर्मों को करता है और उन कर्मफलों को भोगने के लिए विभिन्न योनियों में जन्म धारण करता है।

वस्तु के यथार्थ बोध को ज्ञान कहते हैं। उससे भिन्न (विपरीत ज्ञान) अज्ञान है। उसी अज्ञान को मोह कहते हैं। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। वह प्राणियों को मोहित कर देता है। प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीवात्मा को बाँध देना उसका काम है। अकर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्त कराने वाली असावधानी का नाम प्रमाद है। कर्मों में प्रवृत्त न होने के स्वभाव को आलस्य कहते हैं। इन्द्रियों से कर्म करते-करते जब मनुष्य थक जाता है, तब उसकी इन्द्रियाँ कर्मों से विरत हो जाती है। उसे ही निद्रा कहते हैं। उसमें बाहर की इन्द्रियों को कर्म से शान्त हो जाना स्वप्न है और मन को कर्म से शान्त हो जाना सुषुप्ति है।

प्रकृति के ही सत्त्वादि तीनों गुण हैं, प्रकृति से संयुक्त आत्मा में ये गुण सदा साथ रहते हैं; परन्तु इन तीनों गुणों का न्यूनाधिक्य प्राचीन कर्मवशात् या भोजनादि आहार के कारण होता है। सात्त्विक आहार से सत्वगुण बढ़ता है। राजस आहार से रजोगुण की वृद्धि होती है और तामस आहार से तमोगुण बढ़ता है।

सत्त्वगुण वृद्धि के समय शरीर त्यागने पर मनुष्य आत्म ज्ञानियों के कुल में जन्म लेकर भगवान् की आराधना रूप पुण्य कर्मों का अधिकारी होता है।

रजोगुण बढ़ी हुई अवस्था में जिस पुरुष की मृत्यु हो जाती है, वह कर्म करने वालों के कुल में जन्म लेकर स्वर्गादि फलों के साधन रूप कर्म करने का अधिकारी होता है। इसी प्रकार तमोगुण के बढ़ने पर जो व्यक्ति मरता है वह निकृष्ट कर्म करने के कारण क्रमशः चाण्डाल, तिर्यक्, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष, गुल्म, लता, सूअर, कुत्ता आदि योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं।

सात्त्विक भोजन से तथा फलासक्ति = त्यागपूर्वक भगवान् की आराधना रूप कर्मों के अनुष्ठान से जब रजोगुण और तमोगुण को आच्छादित कर सत्त्वगुण अधिक हो जाता है, तब मानव यह समझ जाता है कि सत्त्वादि गुण ही किसी भी कर्म को कराने वाले हैं। इस तरह का पुरुष निर्मल भगवद् भक्ति द्वारा संसार-बन्धन से मुक्त होकर भगवद्भाव को प्राप्त कर लेता है।

यह जीवात्मा शरीर से उत्पन्न इन सत्त्वादि तीनों गुणों का अतिक्रमण करके जन्म-मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से मुक्त होकर अमृत स्वरूप आत्मा का अनुभव करता है। इसी अवस्था पर पहुँच जाने को भगवद्भाव प्राप्त करना कहा गया है।

भागवतधर्म का रहस्य

एक बार नौ योगीश्वर विदेहराज निमि के पास आए। राजा निमि ने उन्हें आसनों पर बैठाया और विधिपूर्वक उनकी पूजा की। तदनन्तर राजा नीमि ने उनसे कहा कि मैं आप लोगों को भगवान् का पार्षद समझता हूँ; क्योंकि भगवान् के पार्षद सांसारी प्राणियों को पवित्र करने के लिए विचरण किया करते हैं। जीवों के लिए मनुष्य शरीर प्राप्त करना दुर्लभ है। यदि यह प्राप्त भी हो जाय तब भी प्रतिक्षण मृत्यु का भय सिर पर सवार रहता है; क्योंकि यह क्षणभङ्गुर है। इसलिये अनिश्चित मनुष्य-जीवन में भगवान् के प्यारे और उनको प्यार करने वाले भक्तजनों का दर्शन तो और भी दुर्लभ है। इसलिए हम आप लोगों से यह जानना चाहते हैं कि परम कल्याण का स्वरूप क्या है और उसका साधन क्या है? इस संसार में आधे क्षण का सत्सङ्ग भी मनुष्यों के लिए परम कल्याण करने वाला है।

योगीश्वरो! यदि हम सुनने के अधिकारी हों तो आप कृपा करके भागवत-धर्मों का हमें उपदेश कीजिये; क्योंकि उससे जन्मादि विकार से रहित, एकरस भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं और उन धर्मों का पालन करने वाले शरणागत भक्तों को अपने-आप तक का दान कर डालते हैं। जब राजा निमि ने उन भगवन्प्रेमी सन्तों से ऐसा प्रश्न किया, तब उन लोगों ने बड़े प्रेम से उनका और उनके प्रश्न का सम्मान किया और सदस्य तथा ऋत्विजों के साथ बैठे हुए राजा निमि से कवि नामक योगीश्वर ने कहा—

राजन्! भक्तजनों के हृदय से कभी दूर न होने वाले अच्युत भगवान् के चरणों की नित्य-निरन्तर उपासना ही इस संसार में परम कल्याण करने वाला है। देह गेह आदि तुच्छ एवं असत् पदार्थों में अहंता एवं ममता हो जाने के कारण जिन लोगों की चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासना का अनुष्ठान करने पर पूर्णतया निवृत हो जाता है। भगवान् भोले-भाले अज्ञानी पुरुषों को भी सुगमता से अपनी प्राप्ति के लिये जो उपाय स्वयं श्रीमुख से बतलाये हैं उन्हें ही भागवत धर्म समझो।

राजन्! इन भागवत-धर्मों का अवलम्बन करने वाला मनुष्य कभी विघ्नों से पीड़ित नहीं होता और नेत्र बन्द करके दौड़ने पर भी अर्थात् विधि-विधान में त्रुटि हो जाने पर भी न तो मार्ग से स्खलित ही होता है और न तो फल से वञ्चित ही होता है। भागवत धर्म का पालन करने वालों के लिए यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकार का ही कर्म करे।। वह शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहङ्कार से, अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से, स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायण के लिए समर्पण कर दे। यही सरल-से-सरल और सीधा-सा भागवत धर्म है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽत्मना वाप्रकृतेर्स्वभावात्।
करोमि यद तत सकलं परस्मै
नारायणायेती समर्पयामि।।

(भागवत-११ स्कन्द)

ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृति से ही 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ', इस

प्रकार का भ्रम विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तु में अभिनिवेश, तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेक भय होते हैं। इसलिए अपने गुरु को ही आराध्यदेव परमप्रियतम मानकर अनन्य भक्ति के द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिये।

राजन्! सच पूछो तो भगवान् के अतिरिक्त आत्मतत्त्व के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं; परन्तु न होने पर भी इसकी प्रतीति इसका चिन्तन करने वाले को उसके चिन्तन के कारण उधर मन लगाने के कारण ही होती है जैसे स्वप्न के समय स्वप्नद्रष्टा की कल्पना से अथवा जाग्रत अवस्था में नाना प्रकार के मनोरथों से एक विलक्षण ही सृष्टि दीखने लगती है। इसलिए विचारवान् पुरुष को चाहिये कि सांसारिक कर्मों के सम्बन्ध में सङ्कल्प विकल्प करने वाले मन को रोक दे (कैद कर ले)। बस, ऐसा करते ही उसे अभय पद की (परमात्मा की) प्राप्ति हो जायेगी।

संसार में भगवान् के जन्म की और लीला की बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिए। उन गुणों और लीलाओं का स्मरण दिलाने वाले भगवान् के बहुत से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-सङ्कोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिए। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थान में आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिए। जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत-नियम ले लेता है, उसके हृदय में अपने परम प्रियतम प्रभु के नाम कीर्तन से अनुराग (प्रेम) का अङ्कुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। तब वह साधारण लोगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है। लोगों की मान्यताओं (धारणाओं) से परे हो जाता है। दम्भ से नहीं स्वभाव से ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है तो कभी फुट-फुटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वर से भगवान् को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वर से उनके गुणों का गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रियतम को अपने नेत्रों के सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझाने के लिए नृत्य भी करने लगता है।

राजन्! यह आकाश वायु अग्नि जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र सब-के-सब भगवान् के शरीर हैं। सभी रूपों में स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह जो कोई भी उसके सामने आ जाता है। चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी–उसे अनन्य भाव से–भगवद्भाव से प्रणाम करता है। जैसे भोजन करने वाले को प्रत्येक ग्रास के साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवन शक्ति का सञ्चार) और क्षुधा-निवृत्ति–ये तीनों एक साथ हो जाते हैं वैसे ही जो मनुष्य भगवान् की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है उसे भजन के प्रत्येक क्षण में भगवान् के प्रति प्रेम अपने प्रेमास्पद प्रभु के स्वरूप का अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में वैराग्य–इन तीनों की एक साथ ही प्राप्ति हो जाती है।

राजन्! इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक-एक वृत्ति के द्वारा भगवान् के चरणकमलों का ही भजन करता है, उसे भगवान् के प्रति प्रेममयी भक्ति संसार के प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम भगवान् के स्वरूप की स्फूर्ति–ये सब अवश्य ही प्राप्त होते हैं, वही भागवत हो जाता है और जब ये सब प्राप्त हो जाते हैं तब वह स्वयं परम शान्ति का अनुभव करने लगता है।

विष्णुसहस्रनाम के (251-300) नामों का विशद् भाष्य (हिन्दी में) गताङ्क से आगे

इसके पूर्व अङ्क में विष्णुसहस्रनाम के २५० नामों का अर्थ दिया गया है, २५१वाँ नाम से यहाँ प्रारम्भ किया जा रहा है—

२५१. शिष्टकृत्—स्व सम्बधेन तान् शिष्टान् स्वानुगुण कल्याणान् करोति इति शिष्टकृत्।

अपने सम्बन्ध से वे चेतनाचेतन पदार्थों को शुभ प्रदान करते हैं। अतः शिष्टकृत् उनकी संज्ञा है।

२५२. शुचिः—शुचिः शुद्धः शुच शोके धातुः शुचि कर्मेहायम् इन् प्रत्ययः कित्वात् गुणाभावः।

वे चेतनाचेतनों को शुभ प्रदान करते हुए स्वयं शुद्ध बने रहते हैं।

२५३. सिद्धार्थः—सिद्धः अर्थः अस्य अर्थः ऋगति प्रापणयोः धातु स्थकन् प्रत्ययः रपरगुणे अर्थः।

षिधुधातुः क्त प्रत्ययः अवाप्त समस्त काम होने से वे सिद्धार्थ हैं।

२५४. सिद्धसङ्कल्पः—सं पूर्वक कृपु धातुः भावे घञ् गुणे लत्वे सत्यसङ्कल्पत्वात् सिद्धसङ्कल्पः।

भगवान् सिद्ध सङ्कल्प हैं, अर्थात् वे जो सङ्कल्प करते हैं वह शीघ्र ही कार्यरूप परिणत हो जाता है।

२५५. सिद्धिदः—सिद्धिं ददाति दानार्थक दा धातुः क प्रत्ययः।

भगवान् साधकों को अणिमादि सिद्धियाँ प्रदान करते हैं। (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, इशित्व और वशित्व आठ सिद्धियाँ हैं)।

२५६. सिद्धिसाधनः—सिद्धेः साधनः साघ्-धातुः करणे ल्युट् साघ्नोति अनेन इति साधनः।

जिसके द्वारा कार्य सिद्ध किया जाये उसे साधन कहते हैं। भगवान् स्वयं सिद्धि के साधन भी बनते हैं। अनुष्ठान वेला में ही वे प्रसन्न होकर साधक को अनुकूल उत्साह प्रदान करते हैं।

वृषाही वृषभो विष्णुः वृषपर्ववृषोदरः।
वर्धनोवर्धमानश्च विविक्तः श्रुति सागरः।।
(श्लो० २८)

२५७. वृषाहीः—वृषः अहः अस्य। वृषु सेचने धातु क प्रत्ययः नञ् पूर्वक जहाते कन् द्वारा अहन् व्युत्पादित वृष शब्देन तत्पुरुष समासे टचि टिलोपे वृषह् शब्दात् इनि प्रत्ययः दीर्घे न लोपे वृषाही। वर्षति कामान् इति वृषः।

जीव भगवान् की ओर जब उन्मुख होता है उसका प्रथम दिवस ही सारे मङ्गलों का अङ्कुरण होता है। वह प्रथम दिवस ही वृष (धर्मस्वरूप) है। वह भगवान् का दिन होता है। अतः वृषाही उनकी संज्ञा है।

२५८. वृषभः—वर्षति इति वृषभः वृष् धातुः अभचि प्रत्ययः कित् भवत्रयतापदग्धाम् अभिमुखान् भक्तान् प्रति कृपा वर्षणात् वृषभः।

भगवान् अपने अभिमुख आने वाले जीवों का ताप दूर कर सांसारिक बन्धन हटाकर अपना सामीप्य प्रदान कर देते हैं। अतः वृषभः उनकी संज्ञा है।

२५९. विष्णुः—वे वेष्टि इति विष्णुः विषल्ल व्याप्तौ धातुः णु प्रत्ययः किञ्च।

समाश्रित जीवों पर भगवान् कृपावर्षण कर उन सबों में अविनाभाव से व्याप्त होकर रहते हैं ''नतदस्ति पृथिव्यां यत् मया भूतं चराचरम्'' भगवान् के विना जीवों की सत्ता ही नहीं है ऐसी उनकी व्यापकता है।

२६०. वृषपर्वाः—वृषाः वर्णाश्रमधर्मा ते आरोहण पर्वाणि = सोपानानि यस्य सन्ति सोऽयम् वृषपर्वा।

यहाँ पर वृष शब्द वर्णाश्रम बोधक है। पर्व सोपान बोधक है। भगवान् तक पहुँचने का वर्णाश्रम धर्म ही सोपान का काम करते हैं। अतः भगवान् की उक्त संज्ञा है।

२६१. वृषोदरः—वृषः = धर्मः उदरे यस्यासौ उत्पूर्व दृ धातुः अच् प्रत्ययः त् लोप गुणे रपरे उदरः इति।

भक्तों के द्वारा उपहारी भूत उपहारों को तथा उनकी पूजा को भगवान् धर्म पूर्वक उदरीभूत आत्मसात् करते हैं। अतः वृषोदर उनकी संज्ञा है। वृष शब्द पूर्ववत् धर्म बोधक है।

२६२. वर्धनः—वर्धयति वर्धनः। वृधु वृद्धौ धातुः णिच् ल्युट् अनादेशे णिलोपे वर्धनः। तान् भक्तान् मातृवत् उदरे कृत्वा वर्धयति।

जिस प्रकार माता अपने कुक्षिगत शिशु को बढाती है उसी तरह भगवान् भक्तों को कुक्षिगत कर के उन्हें बढ़ाते हैं। अपने अनुकूल बनाते हैं।

२६३. वर्धमानः—पूर्ववत् वृधु धातु शानच् शपि मुगागमे।

भगवान् भक्तों को बढ़ाते हुए (आनन्द प्रदान करते हुए) स्वयं भी बढ़ते हैं अर्थात् निःसीम आनन्द प्राप्त करते हैं, यही उनका बढ़ना है। निज कल्याण उन्मुख भक्तों को ऐसी स्थिति में देखकर वे बहुत प्रसन्न होते हैं। इसी को लोकोतर आनन्द कहते हैं।

२६४. विविक्तः—विशेषेण विक्तः विपूर्वक विचिरभावे धातुः क्त प्रत्ययः कुत्वे विविक्तः। लोकोत्तरादि वृतानात् स्वैकान्ताद्गुण वृहितात्।

विविक्तशब्द का यहाँ अर्थ विलक्षण है। भगवान् का जो असाधारण चरित्र है वह स्वेतर समस्त वस्तुओं से विलक्षण है। अतः विविक्त उनकी संज्ञा है।

२६५. श्रुतिसागरः—श्रुतीनां सागरः। श्रुयते इति श्रवणे धातु क्तिन् प्रत्ययः। गृनिगरने धातु अप् प्रत्यय गरः गरेण सह सगरः बहुव्रीहि सगरेण निर्वत्तम् अण् द्वारा सागरः सिद्धयति।

जैसे–नदियों का विश्राम सागर में होता है वैसे ही वैदिक वाणियों का विश्रामभूमि भगवान् नारायण ही हैं—'नारायण परावेद, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो'। भगवान् अनन्त कल्याण गुण के सागर हैं श्रुतियाँ उन्हीं गुणों के वर्णन में विश्राम हो जाती है। इसीलिये उन्हें श्रुतिसागर संज्ञा है।

सुभुजो दुर्धरो वाग्मी महेन्द्रो वसुदो वसुः।
नैकरूपो वृहद्रुपः शिपिविष्टः प्रकाशनः।।
(श्लो०सं० २९)

२६६. सुभुजः—सु शोभनाः भुजाः अस्य भुज् पालनात् धात् करणे घञ् प्रत्ययः भुजन्युन्जौ इति निपातनात् कुत्वाभावे सु इत्यनेन समासे।

शरणागत जीवों के भार को वहन करने में अग्रगण्य होने के कारण उनकी भुजाएँ सुशोभित होती हैं। अत एव वे सुभुज कहलाते हैं।

२६७. दुर्धरः—परैः शत्रुभिः धर्तुमशक्यः घृञ् धारणे दुष्पूर्वः खल प्रत्ययः।

प्रलयकालीन समुद्र वेग को कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार आश्रितों के समस्त भार को वहन करने में समर्थ भगवान् के भुजाओं के बल का वेग शत्रुओं को लिये असह्य होता है। अतः दुर्धर उनका नाम है।

२६८. वाग्मीः—वाक् = प्रशस्तो वाक् वेद वाणीत्वात् प्रशस्यः स अस्ति अस्य प्रशंसायाम् ग्मिन् प्रत्ययः।

भगवान् वेद स्वरूप हैं उनकी वेद स्वरूपिणी वाणी प्रशंसनीय है। अपनी वाणी से वे सबों को वशवर्ती बना लेते हैं। अतः वह वाणी गम्भीर है।

२६९. महेन्द्रः—महांश्चासौ इन्द्र इदि परमैश्वर्ये-रन्तनो निपातितः।

यहाँ पर महत् शब्द पूज्य बोधक है। भगवान्

की व्यापकता सर्वतोमुखी है। वे समर्चनीय एवं सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः महेन्द्र सर्वश्रेष्ठ (ऐश्वर्य वाला) भगवान् की यह संज्ञा है।

२७०. वसुदः—वसूनि ददाति इति दा धातुः क प्रत्ययः।

भगवान् परम ऐश्वर्यवान् हैं। लीला विभूति एवं त्रिपाद्विभूति के अधिपति हैं। याचकों अर्थात् धन चाहनेवालों को धन प्रदान करते हैं। अतः वसुदः कहलाते हैं।

२७१. वसुः—सर्वस्य हरि रुपत्वात् धनं यस्मात् वसुं ततः। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

सम्पूर्ण जगत् को परमात्मक समझनेवाले मुमुक्षु जीव मेरे लिये अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा भगवान् का वचन है ऐसे महान् भक्तों के लिये भगवान् स्वयं धन स्वरूप होते हैं। अत एव वे वसु कहाते हैं।

२७२. नैकरूपः—न एकं रूपं यस्यासौ विश्वस्यानन्त्यात् भगवतः विश्वरूपेण विद्यमानत्वात् स्वभावतः तस्य अनन्त रूपे स्थितत्वात् रू शब्दे धातुः प प्रत्यय औ०।

सम्पूर्ण जगत् भगवान् का शरीर है, उसमें विभिन्नता है। अतः असंख्य रूप वाला भगवान् की संज्ञा नैकरूप है। 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप' गी०।

२७३. वृहद्रूपः—उक्त अनन्त रूपेषु एकैकमेव दिग्व्योमावकाशम् व्याप्नुवत् वृहद् रूपमस्य। 'व्याप्तं त्वयैकेनदिशश्च सर्वाः'।

भगवान् अनन्त रूपवाले हैं उनमे से प्रत्येकरूप सम्पूर्ण दिशाओं और आकाश में व्याप्त है। इस प्रकार वृहद्रूप होने से उनका नाम वृहद्रूप है। अर्जुन ने उस रूप को देखकर कहा है कि केवल एक ही आपके शरीर द्वारा सम्पूर्ण आकाश भरा हुआ है।

२७४. शिपिविष्टः—शिपीन् वेवेष्टि इति शिपिविष्टः। शपयः = रश्मयः तान् वेवेष्टि व्याप्तवान् इति विष्लृव्याप्तौ धातुः क्त प्रत्ययः विष्टः इति पिश् अवयवे दीपनायामपिधातुः पृषोदरादित्वात् शिप् ततः इनि प्रत्ययः शिपि साधु।

तैजस पदार्थों एवं सूर्यादि के रश्मियों को शिपि कहते हैं, उनमें विष्ट अर्थात् व्याप्त होने के कारण भगवान् शिपिविष्ट कहाते हैं—**'यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तेत्तेजोविद्धि मामकम्। तेजोऽभिरापूर्य जगत्समग्रम्'**।

२७५. प्रकाशनः—प्रकाशयति इति प्रकाशनः–भगवान् स्वकीयं दिव्य रूपं दिदृक्षुभ्यः अर्जुनादिभ्यः प्रकाशयति इति प्रकाशनः–प्र पूर्वः काशृ दीप्तौ धातुः णिच् ततः ल्यु अन् प्रकाशनः।

भगवान् के दिव्य स्वरूप देखने की इच्छा रखनेवाले भक्तों के लिये स्वयं अनुकूल प्रकाश देते हैं—**'दिव्यं ददाति ते चक्षु'** (गी०)।

ओजस्तेजोद्युतिधरः प्रकाशात्मा प्रतापनः।
ऋद्धस्पष्टाक्षरो मन्त्रश्चन्द्रांशुभास्करद्युतिः।।
(श्लो०सं० ३०)

२७६. ओजस्तेजोद्युतिधरः—ओजः = वलम् तेजः पराभिभवन् सामर्थ्यं द्युतिः औज्वल्यं तानि धरति इति।

उब्ज आर्जवेधातुः असुन् वलोपे गुणे ओजः तिजनिशानेधातुः सुन् प्रत्ययः गुणे, तेजः, धुत् दीप्तौधातु इन प्रत्यय द्युतिः।

जो दूसरों में न पाया जाय, उस बलरूपी सामर्थ्य को ओज कहते हैं, शत्रुओं को अभिभूत करनेवाला सामर्थ्य को तेज कहते हैं। देदीप्यमानता को द्युति कहते हैं। भगवान् उपर्युक्त तीनों गुणों से सदैव समलंकृत रहते हैं। अतः ओजस्तेजोद्युतिधरः उनकी संज्ञा है। **'वलं वलवताश्चाहं, तेजः तेजस्विनामहम्'**।

२७७. प्रकाशात्मा—प्रकाशः प्रकाशस्वरूपः आत्मा यस्यासौ।

अज्ञानी जीवों को भी भगवान् के परम प्रकाश की प्रतीति होती है। अत एव वे प्रकाशात्मा हैं। यथा धृतराष्ट्र—

त्वमेव पुण्डरीकाक्षः सर्वस्य जगतः प्रभुः।
तस्मान्मे यादव श्रेष्ठ प्रसादं कर्तुमर्हति।।

(म०भा०)

२७८. प्रतापनः—प्रतापयति इति प्रतापनः। तप सन्तापे धातुः णिच् ल्युट् वृद्धिः णिलोपः।

भगवान् का प्रकाश तीक्ष्ण है जिससे सारा जगत तपता है। भासस्तवोग्राः– प्रतपन्ति विष्णोः।

२७९. ऋद्धः—ऋधु वृद्धौ धातुः कर्तरि क्त प्रत्ययः ऋद्धः संमृद्धः।

समुद्र को सदा तरंगित होने जैसा भगवान् अपना ऐश्वर्य की संमृद्धता से तरंगायमान होते रहते हैं।

२८०. स्पष्टाक्षरः—स्पष्टीकृतमक्षरं वेदाक्षरमस्य इति स्पष्टाक्षरः अशु व्याप्तौ सरन् (औणा०)।

पूर्व ऋद्ध शब्द से प्रतिपाद्य समृद्धि के द्वारा भगवान् का प्रतिपादक वेदाक्षर स्पष्ट होता है। अतः स्पष्टाक्षरः उनकी संज्ञा है।

२८१. मन्त्रः—मन्तारं त्रायते इति मन्त्रः त्रैङ् धातुः क प्रत्ययः। मन्त्र्यते इति वा मत्रि गुप्तपरिभाषणे धातुः। नुम्।

सर्वसमृद्धि भगवान् को सतत् अनुसन्धान (स्मरण करते रहता है) उसकी भगवान् रक्षा करते हैं। अत एव उनका नाम मन्त्र है। ''यो माम् स्मरति नित्यशः'' जो मुझे नित्य स्मरण करते रहता है—

यदि वातादि दोषेण मद्भक्ता न च मां स्मरेत्।
अहं स्मरामि तं भक्तं नयामि परमां गतिम्।।

मरणकाल में प्रायः जीव वातपित्त कफ के बढ़ जाने के कारण से भगवान् के स्मरण में समर्थ नहीं हो पाता तो भगवान् अपनी ओर से प्रेरणा देकर स्वयं स्मरण का विषय बनकर उसे उद्धार करते अर्थात् परम पद पहुँचाते हैं।

२८२. चन्द्रांशुः—भगवचिन्तन कर्तृणां क्लमहराह्लादतेजस्त्वात् चन्द्राशुः यदि आह्लादने नुम् रक् अनुस्वार पर सवर्णे चन्द्रः। अशूव्याप्तौ उ प्रत्ययः नुम् च अनुस्वार अंशुः।

भगवत्स्वरूप को चिन्तन करनेवाले भक्तों को चिंतन कार्य में जो श्रम होता है, उस श्रम को दूर करके उन्हें आनन्दित कर देनेवाला चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान भगवान् का शीतल तेज है। अतः वे चन्द्रांशु कहे जाते हैं।

२८३. भास्करद्युतिः — भास्करस्य द्युति इव द्युति अस्य।

यह केवल विग्रह प्रदर्शन है वास्तविक तो यह है कि भगवान् के तेज का कोई उपमा ही नहीं हैं। अतः सूर्य के तेज के समान तेजवाले भगवान् को कहना सर्वथा अनुचित है; क्योंकि **'यस्य भासा इदं सर्वम्'**। करोड़ों सूर्य का तेज यदि एकत्रित हो तो भी वह तेज भगवान् के तेज का उपमा नहीं हो सकता। अतः उक्त विग्रह एक देशिक उदाहरण है, जैसे सूर्य के उदय होते ही चन्द्र तारे सभी निस्तेज हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् के सामने दुष्ट शत्रु सभी प्रभावहीन हो पराजित हो जाते हैं। इसीलिये वे भास्करद्युति कहलाते हैं। **'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति'** (गी०)। भगवान् के अतुल यश का श्रवण कर राक्षस भयभीत हो यत्र तत्र भाग जाते हैं।

अमृतांशूद्भवो भानुः शशविन्दुः सुरेश्वरः।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः।।

(श्लो०सं० ३१)

२८४. अमृतांशूद्भवः—अमृतांशुः चन्द्रः तस्य उद्भवः = उत्पत्ति स्थानम् यः स अमृतांशूद्भवः। चन्द्रमा मनसो जातः, पुरुष सू, उत्पूर्वक सत्तार्थक भू

धातुः अप् प्रत्ययः गुणावादेशे उद्भवः इति। अमृताः अंशव किरणा अस्य अमृतांशुः।

अमृतांशु चन्द्र को कहते हैं। चन्द्रमा स्वभाव से ही सबों के ताप को दूर करने का काम करता है। धूप ताप संतप्त जीवों को आप्लायित करता है। चन्द्र के अमृत से सूर्य की किरणें अमृतमयी रहती हैं। चन्द्रमा भगवान् के मन से उत्पन्न होने के कारण उनके मन की जो अमृतमयी शीतलता है उससे वह स्निग्ध है। इसीलिये अमृतांशूद्भव यह उनकी संज्ञा है।

२८५. भानुः—भाति इति भानुः। भा दीप्तौ धातुः दाभाम्याम् नु प्रत्ययः।

अत्यन्त भास्वर तेजवाला सूर्य भी भगवान् के तेज से भासता है। अतः भगवान् की संज्ञा भानु है—**'यस्यभामुपभुज्य आदित्योभाति'**। भगवान् के प्रकाश उपयोग कर सूर्य प्रकाशित होता है।

२८६. शशविन्दुः—शशानां विन्दुः। शश प्लुत गतौ धातुः पचाद्यच् प्रत्ययः। विदि अवयवे अपलाप क्रियः। इदित्वान्नुम् विन्दु इच्छुः इति उ प्रत्ययः शशानां = कुटिल गतीनाम् विन्दुः = अपलपिता।

कुटिल गतिवाले दुष्टराक्षसों को भगवान् विनष्ट कर देते हैं। अतः शशविन्दु उनकी संज्ञा है। लोक में देखा जाता है कि शशक (खरहा) टेढ़-मेढ़ चाल से चलता है। अतः वैसी चालवाले को शशक कहा गया है।

२८७. सुरेश्वरः—सुराणामीश्वरः। षु प्रसवैश्वर्ययोः धातु सत्वे क्रन प्रत्यय सुरः, ईश ऐश्वर्ये वरच् ईश्वरः।

सिधी गतिवाले देवताओं का निर्वाहक भगवान् हैं। अतः सुरेश्वर उनकी संज्ञा है।

२८८. औषधम्—संसार रोग भेषजत्वात् उष् दाहे धातु भावे घञ् ओष उप पद धा धातोः कर्मण्यधिकरणे कि प्रत्ययः आलोपे औषधिः ततः ओषधेरजातौ इति स्वार्थे अण् प्रत्ययः औषधम्।

जीवों के लिये संसार तीक्ष्ण विष के समान है। भगवान् अपने आश्रित जीवों के लिये अपनी दया द्वारा उसे संसाररूपी विष को दूर कर देते हैं। अतः औषधम् उनकी संज्ञा है। यथा देवा देवर्षयश्चैव यं विदुः दुःखभेषजम्। एकाग्रतामूल्यवलेन लभ्यम् भवौषधं त्वं भगवान् किलैकः। देवता तथा देवर्षिगण भगवान् को दुःख का भेषज जानते हैं। हे भगवान् एकाग्रता (ध्यान) रूपी मूल्य के द्वारा संसाररूपी दुःखों की औषधि केवल आप ही से प्राप्त होते हैं।

२८९. जगतः सेतुः—सेतुः षिञ् बन्धने धातुः तुन् प्रत्ययः।

संसार सागर जो भयङ्कर दुष्पार है उसे पार जाने हेतु सुलभ सेतु भगवान् हैं। पुल द्वारा किसी दो वस्तुओं की सीमा विभक्त होती है। भगवान् भी सत् वर्ग और असत् वर्ग को विभक्त कर उसका साङ्कर्य नहीं होने देते। ''एष सेतुविधरणः एषां लोकानामसंभेदाय'' परमात्मा संसार का धारक है इसी कारण लोक के सत् और असत् वस्तुओं का संश्लेष नहीं होता। वह चेतनाचेतन वस्तुओं को पृथक्-पृथक् अपने में बांधे रहता है। अत एव जीवों के द्वारा दिये गये कर्मों का विनाश, तथा नहीं किये गये कर्मों का संश्लेष नहीं होता और जिसके द्वारा जैसा कर्म किया गया है उसे वैसा ही फल भुगतना पड़ता है। जैसे हजारों गायों में गाय का बछड़ा अपनी मां को ही प्राप्त करता है, दूसरों को नहीं। अतः उनकी जगत् सेतु संज्ञा है।

२९०. सत्यधर्मपराक्रमः—एवं विधाः धर्माः (कल्याण गुणाः) पराक्रमाश्चेष्टितानि सत्या यस्य सः।

यहाँ पर धर्म शब्द कल्याणकारी गुणों का बोधक और पराक्रम शब्द चेष्टा का बोधक है अर्थात् भगवान् के सारे कल्याण गुण और चेष्टाएँ

सत्य हैं, सफल होते हैं निष्फल नहीं होते।

सर्वमेतदृतंमन्ये यन्मांवदसि केशव। अर्जुन ने भगवान् से कहा है आपने जो कुछ भी मुझे कहा है वह सब सत्य है। "विष्णुः सत्यपराक्रमः"।

भूतभव्य भवन्नाथः पवनः पावनोऽनलः।
कामहा कामकृत्कान्तः कामः काम पदः प्रभुः।।
(श्लो०सं० ३२)

२९१. भूतभव्यभवन्नाथः—स्वाम्यमैश्वर्यं त्रिकालेषु इति।

भगवान् का स्वामित्व या ऐश्वर्य जिसका वर्णन पूर्व के नामों में किया गया है वह अद्यतन नहीं अपितु त्रैकालिक है। अतः भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में उनका स्वामित्व एवं ऐश्वर्य अक्षुण्ण रहता है। इस तथ्य को श्रीभगवान् के भूतभव्यभवन्नाथः इस नाम के द्वारा बतलाया जा रहा है। महाभारत में कहा भी गया है—केशी नामक राक्षस को मारने वाले भगवान् केशव भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों के स्वामी हैं—

भूतभव्य भवन्नाथ केशवः केशिसूदनः।
प्राकारस्सर्व वृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा।।

२९२. पवनः—एवं सदा सर्वत्र पुनाति इति नन्द्यादि ल्युट् प्रत्ययः पविगत्यर्थक इत्यस्माद्वा।

अपने स्वभाव से भगवान् सदा और सर्वत्र पहुँचे रहते हैं। इन्हीं की गति से वायु भी गतिमान् हैं और सदा सर्वदा सर्वाभार सर्वत्र उपस्थित रहता है। अतः पवनः उनकी संज्ञा है। वे सबों को पवित्र करते हैं।

२९३. पावनः—पूञ पवने गतिकर्मेहायम्। हेतुमण्णिच् ततः वर्तमाने युच (औ)।

भगवान् स्व सम्बन्धित गंगा आदि साधनों को जगत् को पवित्र करने के कार्य में लगाते हैं। अतः पावन उनकी संज्ञा है। यथा अगस्त्य ने कहा— **'पावनः सर्वलोकानां त्वमेव रघुनन्दन'** अर्थात् हे रघुनन्दन! सम्पूर्ण लोकों को पवित्र करने वाले आप ही हैं।

२९४. अनलः—न अलः अल् भूषण पर्याप्ति-वारणेषु धातुः एवं बहुविधमुपकृत्य च नालं न पर्याप्तमस्यानुग्रहमहिम्नः अनलः इति।

इस प्रकार भक्तों का हर प्रकार से उपकार करके भी भगवान् सोचते हैं कि इस भक्त पर अपनी महिमा के अनुरूप अनुग्रह नहीं किया हूँ। अतः वे अधिकाधिक कृपा करने में अलसाते नहीं हैं। इस प्रकार भक्ति की विन्दुओं से सिक्त होने के कारण उस जीव को सांसारिक अग्नि भी संतप्त नहीं कर पाती।

२९५. कामहाः—कामं = विषयान्तर स्पृहां हन्ति इति हन् धातुः क्विप् प्रत्ययः। कमु कान्तौ कान्ति इच्छा णिङ् एरच् अच् णिलोपः कामस्य सिद्धिः। ततः समासे कामहा इति।

लौकिक विषयों का स्वभाव है कि वह उपभोग द्वारा बढ़ता है घटता नहीं "हविषा कृष्णवर्त्मैव" किन्तु भगवान् अपने पावन आदि गुणों के द्वारा भक्त जीवों के विषयान्तर भोग इच्छा को विनष्ट कर देते हैं। "न काम कलुषितं चित्तं मम ते पादयोः स्थितम्"।

२९६. कामकृत्—भोगमोक्षादिकं सर्वं काम्यं करोति इति। कृञ् धातुः क्विप् तुक्।

भक्तों के अभिलषित भोग तथा मोक्ष सभी काम्य पदार्थों को भगवान् स्वयं प्रदान कर देते हैं। अत एव वे कामकृत् कहलाते हैं।

२९७. कान्तः—कामयते इति कान्तः। कमु धातु णिङ् वर्तमाने क्त प्रत्ययः णिलोपे दीर्घे कान्तः इति। स्वयं सौन्दर्यसौकुमार्यादि रूपगुणैः सुन्दरः कान्तः।

भगवान् अपने स्वाभाविक सौन्दर्य तथा सौकुमार्य आदि गुणों के द्वारा अत्यन्त मनोहर होने के कारण कान्त उनकी संज्ञा है।

२९८. कामः—शीलौदार्यादिभिरात्मगुणैश्च-निकामकमनीयत्वात् कामः ।

भगवान् अपने शील औदार्य तथा दया आदि गुणों के कारण अत्यन्त कमनीय हैं इन्हीं की कान्ति गुण के लेशमात्र प्राप्त कर कामदेव भी संसार को उन्मत्त बना देता है । अतः भगवान् की संज्ञा काम है ।

२९९. कामप्रदः—कामं प्रददाति इति कामप्रदः 'प्रेदाज्ञः' इत्यनेन कः प्रत्ययः ।

भगवान् सभी प्रकार के भक्तों को अपने-अपने अभिलषित कामनाओं को प्रदान करते हैं । अतः कामप्रदः उनकी संज्ञा है । ''एको बहूनांयोविदधाति कामान्'' अर्थात् अकेला परमात्मा अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है ।

३००. प्रभुः—प्रभवति इति प्रभुः । प्र पूर्वक भू धातुः डु प्रत्ययः नितान्तकान्ततया सर्वहृदयहरणे प्रभवतीति प्रभुः ।

भगवान् नितान्त सुन्दर होने के कारण सभी जीवों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ हो जाते हैं । अतः प्रभु उनकी संज्ञा है ।

उपर्युक्त पचहत्तर नामों में श्रुतिसागर (२६५) नाम ऐसा है जिससे स्पष्टतया भगवान् की वेद वेद्यता प्रकट होती है । वेद वाङ्मय के मीमांसकों ने वेद को क्रमशः तीन भागों में विभाजित किया– (१) कर्म, (२) देवता और (३) ब्रह्म । इस प्रसंग में कर्म और देवता का दोनों से सम्बन्ध बताया गया है । वृषपर्वा और वृषोदरः (१६०-१६१) से प्रकट होता है कि धर्म के आराध्य भगवान् हैं । पवनः (२९२) अनलः (२९४) से प्रकट होता है कि देवताओं को भगवान् से शक्ति मिलती है । सिद्धिः (२४४) कामकृत् (२९६) तथा कामप्रदः (२९९) से प्रकट होता है कि भगवान् परम पुरुषार्थ के प्रदत्ता हैं ।

वटपत्रशायी भगवान् का वर्णन

वेदान्त वेद्य भगवान् वेद वाणी के प्रवर्तक हैं यह वाग्मी (२६८) ओर स्पष्टाक्षर (२८०) नामों से प्रकट हो चुका है । वेद अपौरुषेय ज्ञान है । इस ज्ञान का चक्र निरन्तर चलते रहता है । इसी प्रकार युग चुक्र भी । युग चक्र के प्रवर्तक सञ्चालक भी भगवान् ही हैं । यह तथ्य उनके वटपत्रशायी बालमुकुन्द रूप से प्रकट होता है । अगले चौदह नामों में इसी रूप की चर्चा आयी है जो अगले अङ्क में प्रकाशित होगा ।

वास्तु-विचार

(१) गृह-निर्माण में वास्तु-विचार अवश्य करना चाहिए । दक्षिण पश्चिम की नीची (ढालू) भूमि में शिलान्यास कर बना हुआ मकान कभी सुखद नहीं होता है ।

(२) मकान में दक्षिण पश्चिम का कोण और पूर्व दक्षिण का कोण में जलाशय नहीं रहना चाहिए ।

(३) पश्चिम, दक्षिण, पश्चिम दक्षिण के कोण, पूर्व दक्षिण के कोण में नाली नहीं होनी चाहिए ।

(४) मकान के बीच में या कोणे पर बाहर निकलने का दरवाजा नहीं रहना चाहिए । उससे मकान मालिक को महान कष्ट होता है ।

(५) चन्द्रवेध मकान बनाना चाहिए, सूर्यवेध नहीं । उत्तर दक्षिण का लम्बा मकान को चन्द्रवेध कहते हैं और पूर्व पश्चिम मकान के लम्बा को सूर्यवेध कहते हैं ।

स्तोत्ररत्नम्

भारतीय जनमानस में स्तोत्रसाहित्य का प्रभाव अत्यधिक है। प्राय: सभी सम्प्रदाय के आचार्यों ने स्वरचित स्तोत्र द्वारा श्रीभगवान् की स्तुति की है, जिसके परिणाम स्वरूप आज स्तोत्रसाहित्य का भण्डार भरा हुआ है। उन्हीं पूर्वाचार्यों में श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के मध्यवर्ती आचार्य श्रीस्वामी यामुनाचार्य जी महाराज थे। आप श्रीनाथमुनि स्वामी के पौत्र थे। श्री नाथमुनि स्वामी श्रेष्ठ आलवार शठकोप स्वामी जी के शिष्य थे। वस्तुत: श्री नाथमुनि स्वामी एवं श्री यामुनाचार्य स्वामी द्वारा ही श्रीवैष्णव समाज को साहित्य सम्पदा प्राप्त हुयी है। आप दोनों सन्त ज्ञान के सागर थे। श्रीयामुनाचार्य स्वामी ने ही आलवन्दार की रचना की है। सम्पूर्ण स्तोत्र-साहित्य में आलवन्दार 'रत्न' के समान है, इसीलिए सन्तों/विद्वानों ने इसे स्तोत्ररत्न की उपाधि से विभूषित किया है। आलवन्दार नाम श्रीयामुनाचार्य जी के ज्ञानशक्ति पर प्राप्त हुआ है। श्रीयामुनाचार्य जी ने १०-१२ वर्ष की आयु में ही दक्षिण प्रदेश के महा शास्त्रार्थी, शास्त्रार्थ महारथी पं० कोलाहल जी को शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर दिया था, जिससे प्रभावित होकर रानी ने आलवन्दार की उपाधि एवं राजा ने अपना आधा राज्य यामुनाचार्यजी को दिया था।

स्तोत्ररत्न यद्यपि स्तोत्रसाहित्य में परिगणित होता है, किन्तु इसके भाव पूर्ण रूप से दार्शनिक हैं। भगवद् गुणानुवाद का यह विलक्षण स्तोत्र है। 'गागर में सागर' की कहावत को झुठलाते हुए यह स्तोत्र लोटिया में सागर की भाँति है। इसके एक-एक वाक्य में वेदान्त दर्शन के पक्ष समाहित है। इसीलिए आलवन्दार को अन्यान्य सम्प्रदाओं के आचार्यों ने भी स्वीकार करते हुए इसके अनेक श्लोकों को अपने नित्य के पूजनपद्धति में स्वीकारा है। वस्तुत: आलवन्दार पर व्याख्या करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इस कार्य को वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे सभी उपनिषदों, गीता, ब्रह्मसूत्र एवं सभी इतिहास-पुराण का सम्यक् ज्ञान हो।

इधर अनेक वर्षों से या यह कहा जाय कि गीतारहस्यचन्द्रिका, रामकथारसायन के रचना के उपरान्त से ही समाज के बुद्धजीवियों द्वारा आलवन्दार पर व्याख्या करने का श्रीस्वामी जी महाराज से आग्रह किया जा रहा था, जिससे प्रभावित होकर अनन्तश्री स्वामी रङ्गरामानुजाचार्य जी महाराज ने आलवन्दार की विस्तृत हिन्दी व्याख्या की है, उसी व्याख्या को लोक-कल्याण की दृष्टि से वैदिक-वाणी परिवार ने प्रत्येक अङ्क में एक-एक श्लोक प्रकाशित करने का निर्णय लिया है—

नमोऽचिन्त्याद्भुताक्लिष्टज्ञानवैराग्यराशये ।
नाथाय मुनयेऽगाध भगवद्भक्तिसिन्धवे ।।१।।

अन्वय:—अचिन्त्य-अद्भुत्-अक्लिष्टज्ञान-वैराग्यराशये भगवद्भक्तिसिन्धवे नाथाय मुनये नम: ।।

अर्थ—(मैं यामुनाचार्य) जिनकी ज्ञान-वैराग्यराशि अकल्पनीय, अद्भुत एवं अविच्छिन्न है और जो भगवद्भक्ति के सागर होने के कारण चिन्तन से परे हैं, वैसे प्रभु (अपने गुरु) नाथमुनि स्वामी की मैं वन्दना करता हूँ।

विशेषार्थ—स्वामी यामुनाचार्यजी महाराज द्वारा मङ्गलाचरण का यह प्रथम श्लोक है। मङ्गलाचरण करने की भारतीय संस्कृति में सुदीर्घकाल से शिष्ट परम्परा चली आ रही है। मङ्गल तीन रूपों में किया जाता है–नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक। किसी भी कार्यारम्भ के अवसर पर मङ्गलाचरण किया जाता है। ग्रन्थ लेखन में मङ्गलाचरण इसलिए किया जाता है कि ग्रन्थ लेखन में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं हो और

ग्रन्थ की परिसमाप्ति निर्विघ्नतापूर्वक हो जाय। स्वामी यामुनाचार्यजी ने 'स्तोत्ररत्न' की रचना के पूर्व अपने गुरु नाथमुनि की वन्दना की है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यामुनाचार्य जी ने ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य के सिन्धु नाथमुनि की वन्दना क्यों की? नाथमुनि कौन थे। भगवान् को छोड़कर नाथमुनि की वन्दना करने का क्या औचित्य है?

श्रीनाथमुनि स्वामी श्रीसम्प्रदाय के मध्यवर्त्ती आचार्य हैं। इसीलिए प्रात:सायं स्तुति में हम उनका स्तवन मध्यमा कहकर करते हैं—**'लक्ष्मीनाथ समारम्भां नाथयामुनमध्यमाम्। अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरु परम्पराम्'**। नाथमुनि स्वामी यामुनाचार्य जी महाराज के गुरु एवं पितामह थे, यद्यपि साक्षाद् गुरु यामुनाचार्य जी के श्रीराममिश्र जी थे, फिर भी उनके गुरु नाथमुनि ही माने गये हैं। इसका कारण यह है कि जिस समय यामुनाचार्य की अवस्था १०-१२ वर्ष की थी, उस समय दक्षिण भारत के एक गुरुकुल के सुयोग्य आचार्य भाष्याचार्य जी के आश्रम में वे विद्या ग्रहण कर रहे थे। वह स्थान पाण्ड्य नरेश के अधीन था। पाण्ड्य नरेश के राज-पुरोहित का नाम पं० श्रीकोलाहल था। पाण्ड्य नरेश को पण्डित सन्तापी कोलाहल वश में कर लिया था और अपनी वाक्चातुरी से सभी पण्डितों को येन-केनप्रकारेण पराजित कर उनसे कर ग्रहण करता था और विद्वानों को सन्तप्त करते रहता था। दैव वशात् बालक यामुन ने किसी घटना विशेष पर पण्डित सन्तापी कोलाहल को तर्क (शास्त्रार्थ) करने की चुनौती दे डाली। फलत: राजा-रानी के समक्ष दोनों का तर्क (शास्त्रार्थ) हुआ और पण्डित सन्तापी कोलाहल बालक यामुन से बुरी तरह शास्त्रार्थ में पराजित हो गया। तर्कपूर्व यामुनाचार्य जी की अवस्था और कोलाहल के पाण्डित्य पर राजा ने रानी से कहा कि यदि यह बालक पण्डित कोलाहल को पराजित कर देता है तो इसे मैं अपना आधा राज्य समर्पित कर दूँगा। फलत: यामुनाचार्य के विजयी होने पर पाण्ड्य नरेश ने अपना आधा राज्य यामुनाचार्य को दे दिया। यामुनाचार्य जी बालक होते हुए भी प्राप्त राज्य का अद्भुत सञ्चालन किया। उन्होंने अपने विरोधी राज्य को अपने राज्य में मिलाकर राज्य को निष्कण्टक बना दिया और राज्य करने लगे। अब वे एक राजा की भाँति राज्य चिन्तन में ही निमग्न रहते हुए काफी समय तक राज्य करते रहे तथा राज्य के प्रभाव से वे विविध प्रकार के ऐश्वर्यों ये युक्त भौतिक सुख का आनन्द लेते हुए नश्वर शरीर को शाश्वत समझने लगे।

इस बीच उनके पितामह नाथमुनि का देहावसान हो गया। नाथमुनि का यामुनाचार्य के प्रति अतिशय स्नेह था, अत: वे अपनी मानवी लीला समाप्त करने के पूर्व अपने प्रधान शिष्य श्रीराममिश्र या मनक्कल नम्बी से कहा कि देखना यामुनाचार्य कहीं विषय भोग में रत होकर अपना कर्तव्य न भूल जाय। मैं उसका भार तुम पर सौंपता हूँ। इतना कहकर वे वैकुण्ठगमन कर गये। तदनन्तर श्रीराम मिश्र ने बहुप्रयत्नपूर्वक यामुनाचार्य जी को राजकीय सुख से मुँह मोड़कर श्रीरङ्गम् लाया और मार्ग में ही उन्हें दीक्षित किया। यह कार्य अपने गुरु नाथमुनि के निर्देशानुसार उन्होंने किया था, अत: यामुनाचार्य के गुरु उनके पितामह नाथमुनि ही हुए; क्योंकि नियम यह है कि जिसके आदेश से जो कार्य होता है या किया जाता है, वह कार्य उसी का होता है। इसीलिए यामुनाचार्य ने मङ्गल श्लोक में अपने गुरु नाथमुनि का स्तवन किया है।

मङ्गल में आराध्य देव व आचार्य (गुरु) दोनों की वन्दना करने की शिष्ट परम्परा है–'यथा देवो तथा गुरो:', किन्तु श्रीवैष्णव परम्परा में तथा अन्यान्य परम्परा में भी गुरु की महत्ता अधिक मानी गयी है; क्योंकि भगवद् प्राप्ति में गुरु ही सेतु होता है। भला

संसार सागर को विना सेतु के कोई कैसे पार कर सकता है। सेतु का भाव मध्यस्थ से है। भक्तिमार्ग में जीव और ब्रह्म के मध्य आचार्य मध्यस्थ (पुरुषकार) होते हैं। गुरु अर्थात् आचार्य स्वोपार्जित ज्ञान, तप, बुद्धि, त्याग, सदाचार एवं भक्ति द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने में समर्थ होते हैं और जब कोई सामर्थ्यवान् व्यक्ति किसी कार्य के लिए किसी के समक्ष कुछ पैरवी करता है, तब वह पैरवी सार्थक एवं लक्ष्य प्रदान करने वाली होती है। भगवान् तो निर्हेतुकी कृपा के सागर हैं, शरणागतवत्सल हैं। फिर जब गुरु के द्वारा हम श्रीभगवान् के समक्ष शरणागति करते हैं, तब भगवान् क्यों नहीं हमारी रक्षा करेंगे।

श्रीनाथमुनि स्वामी को गुरु मानने में एक और कारण है कि जब मनुष्य के जीवन में एक से अधिक गुरु यथा–शिक्षा-गुरु, दीक्षा-गुरु, मानस-गुरु आदि का संयोग होता है, तब प्रधान रूप से मानस गुरु का ही नाम गुरु रूप में धारण किया जाता है। इस परम्परा के सर्वोच्च उदाहरण यतिराज स्वामी रामानुजाचार्य जी महाराज हैं। उन्होंने पाँच आचार्यों से सद्ग्रन्थों का अध्ययन किया था, किन्तु सिद्धान्त यामुनाचार्य जी का ही उन्होंने अपनाया। अत एव स्वामी रामानुजाचार्य जी के गुरु यामुनाचार्य जी ही माने जाते हैं। इसी प्रकार यामुनाचार्य जी भी नाथमुनि की आज्ञा से श्रीराम मिश्र से दीक्षा ली थी, किन्तु सिद्धान्त नाथमुनि का ही स्वीकारा था। इसीलिए नाथमुनि स्वामी ही उनके पितामह के साथ गुरु, परमगुरु होते हैं।

जैसा प्रारम्भ में कहा गया है कि नाथमुनि स्वामी श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के मध्य आचार्य माने जाते हैं। प्रथम आचार्य (आचार्या) जगन्नननी लक्ष्मी जी स्वयं हैं। सर्वप्रथम सनातन श्रीवैष्णव धर्म का उपदेश हम जीवों के कल्याणार्थ लक्ष्मी जी ने ही किया है। तदनन्तर शठकोप स्वामी के अवतरित होने पर नाथमुनि स्वामी उनसे दीक्षित एवं शिक्षित होकर उनकी ही कृपा से श्रीवैष्ण धर्म के श्रुति प्रतिपादित एवं दिव्य प्रबन्धों (प्रबन्ध कहते हैं, तमिल भाषा में आलवारों द्वारा निबद्ध श्रीभगवान् के स्वरूपादि के स्तवन को) में वर्णित विशेष रहस्यार्थों का ज्ञान प्राप्त कर श्रीवैष्णव धर्म के सिद्धान्त स्थापक महान् आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए। जिससे सभी वैष्णवगण मध्यमा शब्द (अर्थात् आद्य आचार्या लक्ष्मी जी, मध्य आचार्य नाथमुनि स्वामी एवं स्तवन कर्त्रा के आचार्य) से नाथमुनि स्वामी का स्तवन करते हैं। इन तीनों के स्तवन से सभी आचार्यों का स्तवन हो जाता है, फलत: सभी आचार्य प्रसन्न होते हैं। इसीलिए भी यामुनाचार्य जी महाराज ने नाथमुनि स्वामी की वन्दना की है।

नाथमुनि स्वामी के गुणों का प्रकाशन करते हुए यामुनाचार्य जी महाराज ने ज्ञान-वैराग्य राशये के साथ भक्ति सिन्धवे शब्द का प्रयोग किया है, ज्ञान और वैराग्य शब्द का विशेषण तीन शब्दों द्वारा आचार्य जी ने किया है–अचिन्त्य, अद्भुत और अक्लिष्ट। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसे दो शब्दों से परिभाषित किया है–ज्ञान और विज्ञान। ज्ञान शब्द से भगवत् स्वरूप का सामान्य ज्ञान और विज्ञान शब्द से श्रीभगवान् के विशेष स्वरूप का ज्ञान विवक्षित है। विशेष स्वरूप में तत्त्वत्रय ज्ञान आता है। राशि शब्द का अर्थ होता है समूह (अथाह समूह) अर्थात् वैसा समूह जिसकी गणना सम्भव नहीं हो। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए आयार्च जी ने अचिन्त्य विशेषण का प्रयोग किया है। अचिन्त्य शब्द का भाव चिन्तन से परे होता है अर्थात् जिसकी संख्या या मात्रा की कल्पना भी हम अल्पज्ञ लोग नहीं कर सकते, वैसे ज्ञानी।

अद्भुत शब्द का भाव पूर्व से है। नाथमुनि स्वामी के पूर्व इस धराधाम पर कोई ऐसा सन्त अवतरित नहीं हुआ था, जो ज्ञान एवं वैराग्य में

नाथमुनि स्वामी के समतुल्य हो। अत: इन दोनों विशेषणों का भाव हुआ कि नाथमुनि स्वामी का ज्ञान और वैराग्य इतना अथाह था कि हम सब उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, फिर भी अत्यधिक प्रयत्नपूर्वक जिन अंशों का हम ज्ञान कर पाते हैं, वह अद्भुत होता है; क्योंकि इसके पूर्व उस तत्त्व का दर्शन कभी किसी में दिखलायी नहीं दिया। अद्भुत शब्द आश्चर्य को देता है और आश्चर्य वहीं होता है, जिसका ज्ञान पूर्व में नहीं हो सका हो। आचार्य जी का भाव है कि हम लोग अपनी क्षमता के अनुसार जितना अधिक प्रयत्नपूर्वक नाथमुनि स्वामी के ज्ञान एवं वैराग्य का ज्ञान करते हैं, उतना ही आश्चर्य और बढ़ता जाता है।

तृतीय विशेषण के रूप में स्तोत्र में अक्लिष्ट शब्द आया है। अक्लिष्ट उसे कहते हैं, जिसमें क्लिष्टता नहीं हो। जिसको प्राप्त करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो। आचार्य जी कहते हैं कि किसी चीज की प्राप्ति दो प्रकार से होती है—(क) स्वप्रयत्न द्वारा और (ख) दूसरा भगवत्कृपा द्वारा। जैसा कि लोकव्यवहार में देखा जाता है कि मनुष्य को किसी चीज की प्राप्ति अथक् परिश्रम द्वारा होती है, अथवा भाग्य द्वारा। उसी प्रकार ज्ञान (तत्त्व त्रय) एवं वैराग्य की प्राप्ति भी दो प्रकार (स्वप्रयत्न और भगवद् कृपा) से होती है। स्वप्रयत्न अर्थात् अध्ययन, तपस्या आदि से प्राप्त ज्ञान एवं वैराग्य। स्वप्रयत्नकृत साध्य ज्ञान वैराग्य में न्यूनता रहने की प्रबल सम्भावना बनी रहती है, किन्तु भगवान् की निर्हेतुकी कृपा से प्राप्त ज्ञान-वैराग्य में अदृढ़ता का सर्वथा अभाव रहता है। लोक में दोनों प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं—व्यास, पराशरादि ऋषियों ने जो ज्ञान प्राप्त किया है, वह स्वप्रयत्न साध्य है, अत: वह क्लिष्ट कार्य में परिगणित होता है, किन्तु शठकोप स्वामी जी या श्रीभगवान् ने जो नाथमुनि पर निर्हेतुकी कृपा कर उन्हें ज्ञान एवं वैराग्य दिया है, वह सर्वांश में पूर्ण एवं दृढ़ता के साथ विद्यमान है। ज्ञान का तात्पर्य यहाँ तत्त्वत्रय से है। तत्त्वत्रय का सम्यक् ज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान माना जाता है। तत्त्वत्रय चिद्, अचिद् और ईश्वर को कहते हैं। अचित् तत्त्व हेय है, चेतन तत्त्व को भगवान् का दास माना जाता है और ईश्वर सभी के नियन्ता हैं। इन तीन तत्त्व का परिपूर्ण ज्ञान रखने वाले को ही ज्ञानी कहते हैं। भगवान् की निर्हेतुकी कृपा से नाथमुनि स्वामी पूर्ण ज्ञानी थे।

वैराग्य का भाव सांसारिक विषयों के वैराग्य से है। जिस व्यक्ति के अन्दर श्रीभगवान् के चरणों में अनहद प्रेम रहने के कारण भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी सांसारिक विषयों में पूर्णत: प्रेम नहीं हो, वैसी स्थिति को वैराग्य कहते हैं। इस स्थिति के अतिरिक्त प्रयत्नपूर्वक चित्त् को सांसारिक विषयों से हटाकर प्राप्त होने वाले वैराग्य में दृढ़ता का अभाव रहता है। प्रयत्न के ढ़ीला पड़ते ही वैराग्य अदृढ़ होकर बिखर जाता है।

इस पद्य में तीन विशेष्य और तीन विशेषण हैं, किन्तु ज्ञान वैराग्य को एक साथ रखा गया है और भक्ति को पृथक्। यद्यपि तीनों को एक साथ रखा जा सकता था, किन्तु आचार्य जी ने ऐसा नहीं किया। भक्ति को पृथक् रखकर आचार्य जी ने भक्ति की प्रधानता प्रदर्शित किया है; क्योंकि आचार्य जी का यहाँ यह भाव है कि भक्ति से रहित ज्ञान और वैराग्य को पूर्ण नहीं माना जा सकता, किन्तु ज्ञान-वैराग्य से रहित व्यक्ति भी भगवान् की भक्ति द्वारा परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। अत: यामुनाचार्य जी ने श्रीरङ्गनाथ (नाथमुनि) स्वामी की श्रीभगवान् के चरणों में अगाध भक्ति को देखते हुए पृथक् भक्ति सिन्धवे कहते हुए साष्टाङ्ग प्रणाम समर्पित किया है।

नारियों के लिए पातिव्रत्य धर्म श्रेयस्कर है

पूर्वकाल में श्रेष्ठ नगर वर्धमानपुर में वीरशान्त नाम से विख्यात एक ब्राह्मण रहते थे, वे वेद-विद्या में प्रवीण थे। उनको एक कन्या उत्पन्न हुई, जो प्रमाण से बहुत बड़ी थी। अत: उसका नाम दीर्घिका पड़ा। वह कुमारी धीरे-धीरे युवावस्था को प्राप्त की; परन्तु किसी भी पुरुष ने उसका वरण नहीं किया; क्योंकि जो काममोहित पुरुष अत्यन्त थोड़े केशवाली, अत्यधिक बड़ी तथा अधिक नाटी कन्याओं से विवाह करता है, वह छ: महीने के भीतर मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी कारण सब लोग उस कुमारी को बहुत बड़ी बताकर त्याग देते थे। इससे उस कुमारी के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह घोर तपस्या में लग गयी।

इस प्रकार तप में लगी हुई उस कन्या के समीप राजसम्पदा उपस्थित हुई। उस समय इन्द्र ने उसे प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—शुभे! कन्यावस्था में ऋतुमती हो गई हो, इसका कारण सदोष हो गयी हो। अत: किसी पति का वरण करो, जिससे पवित्र हो सकोगी। यह सुनकर उस कन्या को बड़ी लज्जा हुई। उसने वर्धमानपुर में जाकर हाथ उठाकर कहा—यदि कोई कुलीन ब्राह्मण मेरा पाणिग्रहण करे, तो मेरी आधी तपस्या उसकी हो जायेगी और मैं उसका कल्याण करूँगी। यह सुनकर किसी कोढ़ी ब्राह्मण ने उसे बुलाकर कहा—यदि तू सदा मेरे कथनानुसार चलेगी तो मैं तेरा पाणिग्रहण करके तेरे साथ विवाह करूँगा। कन्या ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! तुम शास्त्रोक्त विधि से मेरा पाणिग्रहण करो, मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करूँगी।

तदनन्तर ब्राह्मण ने गृह्यसूत्रोक्त विधान से देवता, अग्नि तथा गुरु के समीप उस कुमारी का पाणिग्रहण किया। विवाह के पश्चात् दीर्घिका पति से बोली—नाथ! आज्ञा दीजिये मैं इस समय आपकी क्या सेवा करूँ? पति ने कहा—सुन्दरि! मैं तुम्हारी सहायता से अड़सठ तीर्थों में स्नान करना चाहता हूँ। यदि यह कार्य कर सको तो करो। तब उस पतिव्रता ने 'बहुत अच्छा' कहकर पति की आज्ञा शिरोधार्य की और पति के बराबर बाँस की एक मजबूत खाट बनाकर उस पर कोमल रूई भरा हुआ बिछावन डाल दिया और हाथ जोड़कर कहा—प्राणनाथ! इस पर बैठिये, जिससे कि मैं आपको मस्तक पर लेकर समस्त शुभ तीर्थों की यात्रा करा सकूँ।

तब कोढ़ी ब्राह्मण प्रसन्न होकर पृथ्वी से शनै:-शनै: उठकर बाँस के उस खटोले पर बैठ गया और वह उसे माथे पर लेकर तीर्थों में घूम-घूमकर अपने पति को तीर्थ स्नान कराने लगी। क्रमश: समूची पृथ्वी पर घूमती हुई एक दिन सन्ध्या समय वह हाटकेश्वर क्षेत्र में पहुँची। उस समय वह थक गयी थी, पैर लड़खड़ा रहे थे। उसी प्रदेश में उस दिन मुनिवर माण्डव्य को शूली पर चढ़ाया गया था। वे अत्यन्त दु:ख सहन करते हुए शूली पर बैठे हुए थे। पतिव्रता दीर्घिका माथे पर भार लेकर उसी मार्ग से निकली। उसके धक्के से वह शूल हिल गया और मुनिवर माण्डव्य का शरीर भी बिचलित हो गया। इससे उन्हें बड़ी भारी पीड़ा हुई और वे दु:खी होकर बोले—किस पापी ने मेरे इस शूल को हिला दिया, जिससे मुझ दु:खी का दु:ख और भी बढ़ गया।

दीर्घिका बोली—महाभाग! मैंने आपको देखा नहीं, भूल से आपके शूल का स्पर्श हो गया। माण्डव्य बोले—निष्ठुरे! तुमने मुझे प्राणान्तकारिणी पीड़ा दी है, इसलिये तुम्हारा अभीष्ट पति सूर्य

किरणों का स्पर्श होते ही मेरे शाप से निश्चय ही अपने प्राणों का त्याग करेगा।

दीर्घिका ने कहा—यदि प्रात:काल मेरे पति की मृत्यु होगी तो अब प्रात:काल या सूर्योदय होगा ही नहीं। ऐसा कहकर दीर्घिका धरती पर बैठ गयी और बाँस के खलोटे में बैठे पति को उसने माथे पर से उतार दिया। उस समय कोढ़ी ने कहा—प्रिये! मुझे प्यास लगी है, अत: पीने योग्य शीतल जल ले लाओ। इतना सुनते ही वह पति की आज्ञा का पालन करने के लिये उत्सुक हो पानी लाने के लिए इधर-उधर घूमने लगी, किन्तु अन्धकार में उसे कहीं भी जल दिखलायी नहीं दिया। तब उसने पृथ्वी पर आघात किया और माण्डव्य ऋषि के देखते-देखते निर्मल एवं स्वादिष्ट जल निकल आया। फिर परिश्रम से कष्ट पाते हुए अपने पति को उस जल से स्नान कराया और उन्हें जल पिलाकर स्वयं भी पिया।

उस समय पतिव्रता के भय से सूर्यदेव उदित नहीं हुए। इससे प्रात:काल आने में बहुत विलम्ब हुआ। रात्रि को बहुत बड़ी होती देखकर यज्ञकर्म करने वाले शान्तचित्त ब्राह्मण बहुत दु:खी हो गये। देवता यज्ञ भाग से वञ्चित होकर बड़े कष्ट में पड़ गये और सूर्यनारायण के निकट जाकर बोले—दिवाकर! आपका उदय क्यों नहीं होता? देखिये आपके बिना सम्पूर्ण जगत् व्याकुल हो रहा है। सूर्यदेव ने कहा—देवतागण! मैंने पतिव्रता के आदेश से अपना उदय रोक रखा है। अत: आप सब लोग उसके पास जाकर मेरे उदय के लिए अनुरोध करें। उसकी आज्ञा होने पर मैं सुखपूर्वक उदित हो जाऊँगा। एक लक्ष अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान में जो फल होता है, उसी को स्त्री केवल पातिव्रत्य धर्म के पालन से प्राप्त कर लेती है।

यह सुनकर देवगण उस उत्तम क्षेत्र में गये और दीर्घिका के सम्मुख खड़े हो कोमल स्वर में कहने लगे—पतिव्रते! तुमने जो सूर्य का उदय रोक दिया है, वह अच्छा नहीं किया; क्योंकि उससे पृथ्वी पर शुभकर्मों का अनुष्ठान रूक गया है। अत: शुभे! तुम आज्ञा दे दो, जिससे सूर्यदेव उदित हों। दीर्घिका ने कहा—माण्डव्य मुनि ने अकारण ही मेरे पति को शाप दिया है। जब मेरे पति नहीं रहेंगे—तब मुझे सूर्योदय से, यज्ञ से, श्राद्ध से और दान आदि से क्या प्रयोजन है?

यह सुनकर देवगण एक-दूसरे की ओर देखकर दीर्घिका से बोले—भद्रे! सूर्य का उदय होने दो, तुम्हारे प्रियपति की भी मृत्यु हो जाय और ये मुनीश्वर माण्डव्य भी सत्यवादी हो जायँ। इसके बाद हम शीघ्र ही मृत्यु के मार्ग में गये हुए तुम्हारे पति को पुन: जीवित कर देंगे। उस समय तुम्हारे पति की अवस्था पच्चीस वर्ष की हो जायेगी और तुम बड़े सुन्दर रूप में अपने पति का दर्शन करोगी तथा तुम भी पन्द्रह वर्ष की सी अवस्था से युक्त एवं कमल के समान नेत्रों वाली होकर स्वेच्छानुसार मर्त्यलोक में सुख का उपभोग करोगी। उसी प्रकार ये पापरहित मुनिवर माण्डव्य भी शूलभेद की पीड़ा से मुक्त होकर सुख के भागी होंगे। पश्चात् दीर्घिका ने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओं की बात मान ली। उसके हाँ कहते ही भगवान् सूर्य बड़े वेग से उदित हुए। सूर्य की किरणों का स्पर्श होते ही कोढ़ी ब्राह्मण की मृत्यु हो गयी, किन्तु देवताओं के हाथों का स्पर्श पाकर वह पुन: उठ खड़ा हुआ। उसकी अवस्था पच्चीस वर्ष की सी दिखायी दे रही थी। जान पड़ता था दूसरे कामदेव ही आ गये हैं। उसे अपने पूर्व जन्म की सब बातों का स्मरण था, अत: इस नूतन जन्म से उसे बड़ा हर्ष हो रहा था। दीर्घिका भी श्रीशङ्कर जी का स्पर्श पाकर दिव्य लक्षणों से लक्षित युवती हो गयी। उसके नेत्र कमलदल के समान शोभा पा रहे थे और मुख चन्द्रमा के समान मनोहर प्रतीत हो रहा था।

तदनन्तर देवताओं ने माण्डव ऋषि को शूली से उतार कर कहा—मुने! आपने जो शाप दिया था, वह आपका वचन सत्य किया गया। सूर्य किरणों के स्पर्श से वह कोढ़ी ब्राह्मण मर गया। तत्पश्चात् पुन: हमने उस स्त्री के साथ उसे तरुण जीवन प्रदान किया है, अत: अब आप अपने आश्रम में पधारें और हमसे वर माँगे। माण्डव्य ने कहा—श्रेष्ठदेवगण! मैं आप लोगों से वर ग्रहण करूँगा; परन्तु धर्मराज मेरे एक प्रश्न का निर्णय करें। संसार में समस्त प्राणियों के लिए सुख और दु:ख के रूप में उनके पूर्वजन्म का शुभाशुभ कर्म ही उपस्थित होता है। यह सर्वथा सत्य सिद्धान्त है। मैंने इस लोक या परलोक में कौन-सा पातक कर्म किया, जिससे मुझे ऐसी वेदना प्राप्त हुई और किसी प्रकार की मृत्यु नहीं हुई।

धर्मराज ने कहा—विप्रवर! आपने दूसरे शरीर में बचपन के समय तीखे शूल के अग्रभाग से पृथ्वी के एक जीव को बींधा था। यही पाप आपसे हुआ है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पाप थोड़ा-सा भी नहीं दिखायी देता। यही कारण है कि आपको इस दशा में डाला गया है। धर्मराज की यह बात सुनकर माण्डव्य मुनि को बड़ा रोष हुआ और उन्होंने सामने खड़े धर्मराज से कहा—धर्म! तुमने मुझे थोड़े से अपराध के लिए महान् दण्ड दिया है। अत: मेरा शाप ग्रहण करो। तुम मानव शरीर पाकर शूद्रयोनि में स्थित हो जाति संहारजनित महान् दु:ख का उपभोग करोगे तथा आज से मैंने समस्त देहधारियों के लिए व्यवस्था कर दी कि आठ वर्ष से ऊपर का मनुष्य ही अपने निन्दित कर्म के कारण दण्ड का भागी होगा। ऐसा कहकर माण्डव्य ऋषि भी पीड़ा से मुक्त हो अभीष्ट दिशा को ओर चल दिये। उन्हें जाते देख सब देवताओं ने कहा—भगवन्! धर्मराज तो केवल न्याय करते हैं, अत: आप उन्हें शाप के द्वारा शूद्र न बनावें। आप इनके ऊपर कृपा प्रदान करें।

माण्डव्य ने कहा—मैंने जो बात कह दी, वह मिथ्या नहीं हो सकती। निश्चय ही धर्मराज शूद्रयोनि में पड़ेंगे तथापि शूद्रयोनि में रहते हुए भी इन्हें उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होगी और ये पुन: परम उत्तम धर्मराज पद को प्राप्त कर लेंगे। अब यदि आप लोग मुझे वर देना ही चाहते हैं तो यह शूली आप के तथा मेरे स्पर्श से धर्मदायक तीर्थ बन जाय।

।। विवाहमुहूर्त्त 2018 ।।

क्र.सं.	मास	पक्ष	तिथि	दिन	दिनांक			लग्न	समय
01.	वैशाख	शुक्ल	तृतीया	बुधवार	15-04-2018	तिलक	-	वृश्चिक	08:15 से 10:31 तक रात्रि
2.	वैशाख	शुक्ल	चतुदर्शी	गुरुवार	19-04-2018	-	विवाह	कुम्भ	02:22 से 03:52 तक रात्रि
3.	वैशाख	शुक्ल	पञ्चमी	शुक्रवार	20-04-2018	तिलक	-	वृश्चिक	08:08 से 10:24 तक रात्रि
4.	वैशाख	शुक्ल	एकादशी	गुरुवार	25-04-2018	-	विवाह	कुम्भ	01:55 से 03:25 तक रात्रि
5.	वैशाख	शुक्ल	द्वादशी	शुक्रवार	27-04-2018	-	विवाह	कुम्भ	01:51 से 03:21 तक रात्रि
6.	वैशाख	शुक्ल	चतुर्दशी	रविवार	29-04-2018	-	विवाह	कुम्भ	01:43 से 03:13 तक रात्रि
7.	शुद्ध ज्येष्ठ	कृष्ण	एकादशी	शुक्रवार	11-05-2018	-	विवाह	कुम्भ	01 बजे से 02:20 तक रात्रि
8.	शुद्ध ज्येष्ठ	शुक्ल	पञ्चमी	सोमवार	18-05-2018	-	विवाह	कुम्भ	03:02 से 04:57 तक रात्रि
9.	शुद्ध ज्येष्ठ	शुक्ल	सप्तमी	बुधवार	20-06-2018	-	विवाह	कुम्भ	10:18 से 11:48 तक रात्रि
10.					20-06-2018	-		वृष	02:26 से 12:55 तक रात्रि
11.	शुद्ध ज्येष्ठ	शुक्ल	द्वादशी	सोमवार	25-06-2018	-	विवाह	मीन	11:28 से 12:55 तक रात्रि
12.	शुद्ध ज्येष्ठ	शुक्ल	चतुर्दशी	बुधवार	27-06-2018	-	विवाह	मीन	11:20 से 12:47 तक रात्रि
13.	शुद्ध ज्येष्ठ	शुक्ल	चतुर्दशी	बुधवार	27-06-2018	-	विवाह	वृष	02:25 से 04:52 तक रात्रि
14.	आषाढ़	कृष्ण	अष्टमी	शुक्रवार	06-07-2018	-	विवाह	मीन	10:46 से 12:15 तक रात्रि
15.	आषाढ़	कृष्ण	एकादशी	सोमवार	09-07-2018	-	विवाह	वृष	02:23 से 03:32 तक रात्रि

नेत्ररोग निवारक मन्त्र

धर्मशास्त्र, वेद एवम् उपनिषद आदि में बताया गया है कि सूर्य मन्त्र का जप तथा गायत्री की उपासना से चक्षु रोग नष्ट होते हैं और नेत्र में अच्छी ज्योति प्राप्त होती है। प्रतिदिन प्रातःकाल स्नानादि करने के बाद अपने इष्टदेव की पूजा कर चाक्षुषोपनिषद् का पाठ करने से सभी प्रकार के नेत्र रोग नष्ट होते हैं। इससे नेत्र का तेज बढ़ता है और स्वच्छ दृष्टि होती है।

अथ श्रीचाक्षुषोपनिषद—

अथातश्चाक्षुषीं पठितां सिद्धविद्यां चक्षुरोगहरां व्याख्यास्यामः । यच्चक्षुरोगाः सर्वतो नश्यन्ति चाक्षुषी दीप्तिर्भविष्यति इति ।।१।। अस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषि गायत्रीछन्दः सूर्योदेवता चक्षुरोग निवृत्तये जपे विनियोगः ।।२।। ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुस्तेजः स्थिरो भव । मां पाहि पाहि । त्वरितं चक्षुरोगान् शमय शमय । मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय । यथाऽहमन्धो न स्याम तथा कल्पय कल्पय । कल्याणं कुरु कुरु । यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुष्प्रतिरोधक दुष्कृतानि तानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय ।।३।। ॐ नमश्चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय । ॐ नमः करुणाकराय अमृताय । ॐ नमः सूर्याय । ॐ नमो भगवते सूर्याय । ॐ अक्षितेजसे नमः । खेचराय नमः । महते नमः । रजसे नमः । तमसे नमः ।।४।। ॐ असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतं गमय । उष्णो भगवान शुचिरूपः । हंसो भगवान शुचिरप्रतिरूपः ।।५।। य इमां चाक्षुष्मतीं विद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति । न तस्य कुले अन्धो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति ।।६।। ॐ विश्वरूपं घृणिन जातवेदसं हिरण्यं पुरुषं जयोतिरूप तपन्तम् । विश्वस्य योनि प्रतपन्तमुग्र पुरः प्रजानामुदत्येष सूर्यः ।।७।। ॐ नमो भगवते आदित्याय अहावाहिने स्वाहा ।।८।। ॐ वयः सुपर्णाऽउपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधाऽऋृषयो नाधमानाः । अपध्वान्तमूर्णहि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य-स्मान्निधयेव बद्धान् ।।९।। ॐ पुण्डरीकाक्षाय नमः पुष्करेक्षणाय नमः । अमलोक्षणाय नमः । कमले-क्षणाय नमः विश्वरूपाय नमः महाविष्णवे नमः ।।१०।।

इति श्री चाक्षुषोपनिषद् समाप्ता

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो नो मेधया न बहुधा श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।। (उपनिषद्)

परमात्मा न उनको मिलते हैं जो शास्त्रों को पढ़ सुनकर लच्छेदार भाषा में ब्रह्मतत्त्व का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, न तर्कशील बुद्धिमान मनुष्यों को ही मिलते हैं जो बुद्धि के अभिमान में प्रमत्त होकर तर्क के द्वारा विवेचन करके उन्हें समझने की चेष्टा करते हैं और न उन्हीं को मिलते हैं, जो परमात्मा के विषय में बहुत सुनते रहते हैं। परमात्मा तो उसी को प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और स्वीकार उसी को करते हैं, जिसको उनके लिए उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना नहीं रह सकता। जो अपनी बुद्धि या साधन पर भरोसा न करके केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता है। परमात्मा योगमाया को हटाकर उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं। जैसे–शबरी, जटायु, गजेन्द्र, प्रह्लाद आदि भक्तों के समक्ष भगवान् प्रकट हो गये।

श्रीकुलशेखर-आलवार

श्रीवैष्णव परम्परा में बारह आलवार सन्त हुए हैं, उन आलवारों के चरित्र का कीर्तन करने से कलिकाल के दुष्प्रभाव से मनुष्य प्रभावित नहीं होता, ऐसी मान्यता है। अत: उन्हीं आलवारों में श्रीकुलशेखर-आलवार का दिव्य चरित्र का यहाँ चित्रण किया जा रहा है।

केरल प्रदेश में केलिपटन नाम से प्रसिद्ध एक नगरी थी। वहाँ दृढ़व्रत नाम से भगवद्भक्त धर्मात्मा क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। उन्हें सन्तान प्राप्ति की कामना हुई। जैसे त्रेता में राजा दशरथ ने पुत्र के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ किया था, वैसे ही राजा दृढ़व्रत ने पुत्र के लिए भगवान् नारायण की उपासना की। उससे भगवान् प्रसन्न होकर राजा को एक पुत्र प्रदान किये, जो पराभव संवत्, माघमास, शुक्लपक्ष, दशमी तिथि पुनर्वसु नक्षत्र में भगवान् के कौस्तुभ-मणि के अंश से प्रादुर्भूत हुआ। राजा दृढ़व्रत अत्यन्त तेजस्वी और सुन्दर पुत्र को देखकर आनन्द-मग्न हो गए। उन्होंने ब्राह्मणों को विशेष दान दिया। नामकरण के समय परम तेजस्वी बालक का नाम कुलशेखर रखा गया। उस बालक के उचित समय पर चौलादि संस्कार किए गए। श्रीकुलशेखरजी ने 'साक्षीमात्र' नाम के गुरु की सन्निधि में रहकर सभी विद्याओं का अध्ययन किया। महाराजा दृढ़व्रत अपने तेजस्वी पुत्र के अलौकिक प्रभाव को देखकर परम सन्तुष्ट हो गए और समस्त राज्य का कार्य उन्हें सौंपकर तप के लिए वन में चले गए।

श्रीकुलशेखरजी धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। वे समान भाव से प्रजा का पालन करते थे। उन्हें प्रजा के प्रति पुत्रवत् स्नेह रहता था। श्रीकुलशेखरजी वाल्यकाल से ही भगवान् श्रीराम के चरणों में नैसर्गिक प्रेम करते थे। उभय विभूति नायक भगवान् नारायण के आज्ञानुसार श्रीविष्वक्सेन स्वामी ने राजा कुलशेखरजी को श्रीवैष्णवी दीक्षा देकर समस्त सात्त्विक शास्त्रों का ज्ञान करा दिया। राजा वैष्णव संस्कार के अनुसार ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण कर भगवान् श्रीराम की सेवा करते थे। उनकी सात्त्विक एवं निर्मल बुद्धि संसार-सागर से उद्धार के निमित्त चिन्तन करती रहती थी। श्रीकुल-शेखर स्वामी अपने को भगवान् का दास समझ कर सांसारिक मनुष्यों के समान रहना पसन्द नहीं करते थे। जैसे विभीषण लङ्का, मित्र, धन आदि को त्याग कर श्रीराम के चरणों में समर्पित हो गए थे, वैसे ही श्रीकुलशेखरजी श्रीराम के चरण-कमलों में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिए थे। उन्हें अर्चावतारों में श्रीवेङ्कटेश तथा श्रीरङ्गनाथ में भी विशेष प्रेम था। श्रीकुलशेखरजी ने श्रीवेङ्कटेश भगवान् से प्रार्थना की है कि हे नाथ! आपके मन्दिर में मैं सोपान (सीढ़ी) बनकर रहूँ। जिससे सतत आपके दिव्य मुखारविन्द का दर्शन से अपने नेत्रों को तृप्त करता रहूँगा।

एक समय उन्होंने श्रीरङ्ग माहात्म्य में सुना कि श्रीरङ्गपुरी में निवास करने की इच्छा मात्र से ही मनुष्य संसार-सागर से पार हो जाता है। फिर श्रीरङ्गम् क्षेत्र में नित्य निवास करने का फल कहना ही क्या है। उससे राजा कुलशेखर ने श्रीरङ्ग धाम की यात्रा करने का निश्चय किया। मन में विचार करने लगे कि धन, पुत्र, परिवारादि वस्तुएँ अनित्य हैं। इसलिए मुझे अब श्रीरङ्गपुरी में भगवान् रङ्गनाथ की सेवा करनी चाहिए। ऐसा निश्चय कर उन्होंने श्रीरङ्गपुरी की यात्रा की घोषणा कर दी। श्रीकुलशेखर द्वारा अपनी प्रजा को त्यागकर श्रीरङ्ग यात्रा की घोषणा से मन्त्रियों को बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने विचार किया कि यदि राजा कुलशेखर एक बार भी श्रीरङ्गम् चले गए और वहाँ श्रीरङ्गनाथ भगवान् के

सौन्दर्यमय दिव्य श्रीविग्रह के दर्शन कर लिए तो पुन: उनका केलिपट्टन में लौटना असम्भव है। अत: उनकी श्रीरङ्ग यात्रा में हमें विघ्न उपस्थित करना चाहिए।

मन्त्रियों ने श्रीवैष्णवों को बुलाकर उनसे कहा कि राजा कुलशेखरजी कल प्रात:काल श्रीरङ्गम् के लिए प्रस्थान करने वाले हैं, यदि वे श्रीरङ्गम् चले गए तो पुन: उनका यहाँ लौटना सम्भव नहीं होगा। अत: आपलोग कुछ ऐसा उपाय करें जिससे उनकी यात्रा स्थगित हो जाय। मन्त्रियों की प्रार्थना सुनकर श्रीवैष्णव महात्मा जिस समय राजा प्रस्थान करने वाले थे, उसी समय वे सभी उनके सामने आ गए। राजा ने उन्हें देखकर साष्टाङ्ग प्रणाम करके उनसे आशीर्वाद लिया। उन्होंने विचार किया कि श्रीवैष्णव भागवतों की सेवा करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। अत: श्रीकुलशेखर ने अपना श्रीरङ्गम् यात्रा का विचार स्थगित कर समस्त श्रीवैष्णवों की विधिवत् सेवा की। मन्त्रियों के द्वारा प्रेरित होकर प्रतिदिन आने वाले श्रीवैष्णवों की सेवा में व्यस्त रहने के कारण राजा कुलशेखर की श्रीरङ्ग यात्रा स्थगित हो जाती थी।

श्रीकुलशेखर स्वामी ने एक विद्वान् से सुना कि 'वेद प्रतिपाद्य परम पुरुष परमात्मा को श्रीराम रूप में अवतार लेने पर वेद वाल्मीकि के मुखारविन्द से रामायण रूप में प्रकट हो जाता है। अत: समस्त श्रीवैष्णवों को आजीवन श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण का श्रवण करना चाहिए'। विद्वान् के वचन का प्रभाव कुलशेखरजी पर पड़ा। जिससे उन्हें रामायण की कथा सुनने में विशेष अभिरुचि हुई। वे प्रतिदिन रामायण की कथा सुनने लगे। एक दिन एक महात्मा अरण्यकाण्ड की कथा कह रहे थे, उस प्रसङ्ग में उन्होंने कहा कि 'खर-दूषण आदि चौदह हजार राक्षसों की सेना पञ्चवटी में श्रीराम के ऊपर चढ़ाई कर दी। श्रीराम अकेले हैं' यह सुनकर प्रेमातिशय के कारण श्रीकुलशेखरजी को अतीत घटना प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगी। अत एव उन्होंने भगवान् श्रीराम की सहायता के लिए चतुरङ्गिणी सेना को साथ लेकर चलने का निश्चय कर लिया। मन्त्रियों को राजा के इस असामयिक निर्णय से आश्चर्य हुआ। उन्होंने श्रीवैष्णव महात्मा से प्रार्थना की कि वे राजा को समझा कर रोक लें। महात्मा ने रामायण के आगे का प्रसङ्ग वर्णन करते हुए राजा को बाताया कि 'धर्मात्मा श्रीराम ने आधे क्षण में उन क्रूरकर्मा चौदह हजार राक्षसों की विशाल सेना का विनाश कर दिया। महर्षियों को भगवान् श्रीराम के इस अद्भुत पराक्रम को देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई और जनकनन्दिनी श्रीजानकी ने प्रसन्नता से श्रीराम का आलिङ्गन किया'। विजय के इस पावन प्रसङ्ग को सुनकर श्रीकुलशेखरजी बहुत प्रसन्न हुए। प्रसन्नतावश उन्होंने अपने शरीर के आभूषण उतारकर श्रीवैष्णवों को दान कर दिया। तदनन्तर राजा ने अपनी सेना को लौट जाने का आदेश दिया।

भगवान् श्रीराम का प्रथम दर्शन

राजा श्रीकुलशेखर को भगवान् श्रीराम एवं श्रीवैष्णवों के प्रति अनन्य भक्ति थी। उनकी सन्निधि में सदा श्रीवैष्णव रहते थे। यदि उनके पास कोई अवैष्णव आ जाय तो वह अवश्य श्रीवैष्णव बन जाता था। इस तरह उनके शासनकाल में समस्त प्रजा श्रीवैष्णव बन गयी थी। राजा कुलशेखरजी प्रतिदिन श्रीवैष्णवों के साथ मौनव्रत धारण करके श्रीरामायण एवम् अन्य सात्त्विक पुराणों की कथा सुनते थे। कथा सुनाने वाले विद्वान् महात्मा श्रीराम की उत्कर्षता के ही प्रसङ्ग सुनाते थे। एक दिन कथा सुनाने वाले श्रीवैष्णव किसी कारणवश राजा के पास नहीं आये। उन्होंने उस दिन अपने पुत्र को भेज दिया। वह रामायण के रहस्य से अनभिज्ञ था जिसके कारण प्रसङ्ग पर ध्यान नहीं दिया। प्रसङ्ग था सीता हरण का। पण्डित ने कहा कि रावण

संन्यासी वेष धारण कर पञ्चवटी में आया और सीता का हरण कर लङ्का ले गया। राजा कुलशेखरजी यह प्रसङ्ग सुनते ही क्रोधावेश में होकर बोले कि दुष्ट पापात्मा रावण में यह सामर्थ्य है कि मेरे रहते हुए माता जानकी जी का अपहरण कर ले। मैं अभी उसकी लङ्कापुरी को भस्म करके माता जानकी को वापस लाता हूँ। यह करकर उन्होंने अपनी समस्त सेना को लङ्का पर चढ़ाई करने का आदेश दे दिया और स्वयं भी तलवार तथा धनुष-बाण लेकर सेना के आगे-आगे चलने लगे।

भगवान् श्रीराम की अनन्य भक्ति के कारण राजा को समझाने और वापस लाने की शक्ति किसी में नहीं रही। राजा की इस अद्भुत राम भक्ति को देखने के लिए देवतागण विमानों पर चढ़कर आकाश मार्ग से आने लगे। राजा कुलशेखर जी के आदेश से उनकी सेना समुद्र में प्रवेश कर लङ्का की ओर बढ़ने लगी। भक्तवत्सल करुणा सागर भगवान् श्रीराम अपने भक्त की इस अद्भुत लीला को देखकर राजा के सन्मुख प्रकट होकर कहने लगे कि हे पुत्र! मेरे रहते हुए तुमने ऐसा श्रम उठाया, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है। मैं युद्ध में रावण का विनाश कर जानकी जी को वापस ले आया हूँ। तदनन्तर भगवान् श्रीराम ने जानकीजी को उनके समक्ष उपस्थित कर दिया। श्रीराम, लक्ष्मण और सीता के दर्शन कर राजा कुलशेखर बहुत प्रसन्न हुए और सेना सहित भगवान् के साथ नगर की ओर प्रस्थान किए। मार्ग में भगवान् अकस्मात् अन्तर्धान हो गए। भगवान् को न देखकर राजा को अत्यन्त दु:ख हुआ लेकिन वे क्षणभर में समस्त स्थिति को समझ कर सेना को नगर की ओर चलने का आदेश दिया। उन्हें यह अनुभव हुआ कि मैंने प्रवचनकर्त्ता के मुख से रामायण प्रवचन में सीताहरण के प्रसङ्ग को सुनकर जो यह लङ्का पर चढ़ाई करने का उपक्रम किया ये सब गलत है।

प्रतिदिन राजा कुलशेखरजी श्रीवैष्णवों को उत्तम भोजन से सन्तुष्ट रखते थे। वे समस्त राज्य का भार श्रीवैष्णव महात्माओं के ऊपर छोड़कर भगवान्, भागवत एवम् आचार्य के दास रूप में अपने को अनुभव करते रहते थे। यह राजा का व्यवहार उनके मन्त्रियों को प्रिय नहीं लगता था। एक बार मन्त्रियों ने विचार किया कि महाराज अपना पूरा समय श्रीवैष्णवों के संग में व्यतीत करते हैं। सदा श्रीवैष्णवों से घिरे रहते हैं। इससे राज्य के कार्य में शिथिलता आ रही है। अत: मन्त्रियों ने हाथ जोड़कर राजा से निवेदन किया कि हे राजेन्द्र! मोक्षार्थी महात्माओं का कर्त्तव्य है भगवान् तथा भागवतों की सेवा करना और राजा का कर्त्तव्य है अपनी प्रजा का पालन। अपने-अपने कर्त्तव्य के पालन से दोनों को सुख मिलता है। मन्त्रियों की बात सुनकर राजा कुलशेखर ने कहा कि मुक्ति और भुक्ति ये दोनों श्रीवैष्णवों की प्रसन्नता से प्राप्त होती है। अत: श्रीवैष्णव महात्मा ही मेरे प्राण हैं। आपलोग जो मुझे श्रीवैष्णवों से विमुख करना चाहते हैं यह मुझे असह्य है। मन्त्रीगण राजा और श्रीवैष्णव महात्मा में मतभेद कराने के लिए उपाय खोजने लगे।

भगवान् श्रीराम का द्वितीय दर्शन

एक समय राजा कुलशेखर जी अपने बहुमूल्य आभूषणों से विभूषित होकर राजसिंहासन पर बैठे हुए थे। उसी समय परम भागवत श्रीवैष्णव वहाँ आ गए। राजा ने अपने सिंहासन से उतर कर उन श्रीवैष्णवों को साष्टाङ्ग प्रणाम करके उचित सत्कार किया। महात्मागण सत्कृत होने के बाद भगवत्कथा करने लगे। राजा दोपहर तक श्रीवैष्णव सन्तों के पास बैठकर कथारस पान करते रह गये। तदनन्तर वे सन्तों से आज्ञा लेकर मध्याह्न स्नान के लिए चले गये और अपने आभूषणों को सिंहासन पर रख

दिये। स्नान, तिलक एवं सन्ध्यावन्दन के बाद राजा कुलशेखरजी जब अपने सिंहासन पर आये तो वहाँ आभूषण नहीं थे। उन्होंने मन्त्रियों से पूछा कि मैं आपलोगों के समक्ष ही सिंहासन पर अपना आभूषण रखा था, वे क्या हो गये। तुमलोग शीघ्र उनका पता लगाओ नहीं तो मैं तुमलोगों को दण्डित करूँगा। मन्त्रियों ने हाथ जोड़कर राजा से कहा कि महाराज इतनी देर में यहाँ दूसरा कोई व्यक्ति नहीं आया है। केवल श्रीवैष्णव महात्मा ही यहाँ आये थे। बार-बार रोकने पर भी वे नहीं मानते। कभी भी कहीं भी घुस जाते हैं। अत: उन लोगों के अतिरिक्त आभूषणों की चोरी करने वाला अन्य कोई व्यक्ति नहीं है।

मन्त्रियों के मुख से श्रीवैष्णवों की निन्दा और उनके ऊपर मिथ्या आक्षेप के पापमय वचन सुनकर राजा कुलशेखर ने मन्त्रियों को दण्ड देने के लिए मन में निश्चय करके उनसे कहा कि संसार में सब पाप भगवान् श्रीमन्नारायण के नाम स्मरण से मिट जाते हैं और भगवान् की निन्दा करने से जो पाप उत्पन्न होते हैं वे श्रीवैष्णव महात्माओं की स्तुति करने से नष्ट हो जाते हैं; परन्तु श्रीवैष्णवों की निन्दा करने से जो पाप होते हैं वे किसी उपाय से नहीं मिट सकते। अत: तुमलोगों ने जो श्रीवैष्णवों की निन्दा की है उस अपराध के कारण आज तुम लोगों को में दण्डित करता हूँ। इसमें मेरा अपयश नहीं, किन्तु श्रीवैष्णवों पर लगाये गये चोरी के आरोप का मार्जन है। अब मैं सर्वप्रथम सबके सामने उन श्रीवैष्णवों की निर्मलता को प्रमाणित करूँगा। यह कहकर राजा कुलशेखर ने एक भयङ्कर सर्प को मिट्टी के घड़े में रखकर राज्यसभा में मँगवाया और सबको सम्बोधित करके कहा कि श्रीवैष्णव महात्मा संसार के विषयों से तृष्णा रहित हैं, वे कदापि चोर नहीं हैं। मैं इस बात को आप सबके समक्ष प्रमाणित कर रहा हूँ। यदि महात्मा निर्दोष हैं तो यह विषैला सर्प मुझे नहीं डँसेगा, ऐसा कहकर राजा ने घड़े के ढक्कन को उठाकर अपना हाथ उसमें डाल दिया। उन्होंने घड़े में रखे हुए सर्प को अपने हाथ से बार-बार स्पर्श किया; परन्तु वह विषैला सर्प राजा के हाथ को छुआ तक नहीं, काटना तो दूर रहा। इस आश्चर्यमय कार्य को देखकर आकाश से देवताओं ने राजा पर पुष्पों की वर्षा की और दुन्दुभि बजाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

इस कठिन और पवित्र कार्य से प्रसन्न होकर राजा के समक्ष भगवान् श्रीराम प्रकट हो गए। उन्होंने कृपा-कटाक्ष से राजा को देखते हुए, उनसे कहा कि राजन्! आज मैं आपकी श्रीवैष्णव भागवत निष्ठा से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तदनन्तर भगवान् ने राजा का प्रेमालिङ्गन किया। प्रेमालिङ्गन करके वर माँगने के लिए कहा। राजा ने हाथ जोड़कर भगवान् से विनेदन किया कि हे प्रभो! आपकी पूर्णकृपा से दास के पास किसी वस्तु की कमी नहीं है, फिर भी यदि आपको वरदान देने की इच्छा है तो एकमात्र यही वरदान दीजिए कि दास की श्रद्धा भक्ति सदैव आपके चरण-कमलों में बनी रहे।

राजा कुलशेखर की एक पुत्री थी, जो नीला देवी के अंश से उत्पन्न हुई थी। भगवान् ने उसे प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। राजा ने प्रसन्न होकर अपनी सुपुत्री का विधिवत् भगवान् श्रीरङ्गनाथ के साथ पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न कर दिया। भगवान् श्रीराम और श्रीरङ्गनाथजी दोनों एक ही तत्त्व हैं। भगवान् के चले जाने पर राजा के अद्भुत चरित्र और प्रभाव को देखकर मन्त्रीगण अत्यन्त भयभीत हो गये और जिन आभूषणों को चुराया था, उन्हें राजा को सामने रखकर अपराध-क्षमा करने की याचना की। राजा ने मन्त्रियों के अपराधों को क्षमा कर दिया और अपने पुत्र को शासन का भार सौंपकर श्रीवैष्णव महात्माओं की सेवा में समय व्यतीत करने लगे।

श्रीरङ्गम् की यात्रा सफल

राजा कुलशेखरजी रामनवमी के पुण्य महोत्सव पर भगवान् श्रीराम के तिरुमञ्जन अभिषेक की तैयारी में संलग्न थे। भगवान् के सब बहुमूल्य आभूषण उतार कर एक तरफ रख दिये थे। जब तिरुमञ्जन के बाद शृङ्गार का समय आया तो राजा कुलशेखर ने देखा कि भगवान् का एक बहुमूल्य मोतियों की हार गायब है। जब बहुत खोज की गयी तो मन्त्रियों ने पुन: हार चुराने का आक्षेप श्रीवैष्णव महात्माओं पर लगा दिया। यह सुनते ही राजा ने फिर पहले के समान भागवत निन्दा को महान् पाप बताते हुए भगवत्कृपा से ऐसा चमत्कार दिखाया कि मन्त्रियों ने तत्काल हार लाकर उनके समक्ष रख दिया और अपने अपराधों के लिए क्षमा याचना की।

राजा कुलशेखर जी कुत्सित भावनापूर्ण श्रीवैष्णव निन्दा रूप कार्य से असन्तुष्ट हो राज्य का सम्पूर्ण कार्यभार अपने पुत्र को सौंपकर श्रीवैष्णव महात्माओं को साथ लेकर श्रीरङ्गम् चले गये। वहाँ श्रीरङ्गनाथ भगवान् के दर्शन से उनको बड़ा आनन्द मिला। वहाँ रहकर उन्होंने द्रविड़ भाषा में 'देवीगीत' नामक प्रबन्ध की रचना की। इस प्रबन्ध में भगवान् एवं भागवतों के वैभव का प्रतिपादन किया गया है। देवीगीत में १०५ गाथायें और सात दिव्य देशों का मङ्गलाशासन हैं, जो क्रमश: श्रीरङ्गक्षेत्र में रङ्गनाथ भगवान्, वृषभाचल में श्रीनिवास भगवान्, अयोध्या में श्रीराम भगवान्, चित्रकूट में गोविन्दजी, कृष्णपुरी में सौरीराज भगवान्, बानाचल में सुन्दरांग और बाराह नाथ भगवान् का मङ्गलाशासन है।

भगवान् श्रीरङ्गनाथ की कृपा से राजा कुल-शेखरजी ने द्रविड़ भाषा में १०० गाथाओं से युक्त एक महाप्रबन्ध भी बनाया। तदनन्तर अनेक दिव्य देशों में भगवान् का दर्शन करते हुए पाण्ड्यदेशीय श्रीगोपाल भगवान् की सन्निधि में रहकर महाप्रयाण किया।

राजा कुलशेखर ने अपने आपको सदा भगवान् श्रीराम एवं श्रीवैष्णव के निर्मल प्रेम में आह्लादित रखा। उनकी अपूर्व निष्ठा के फलवरूप भगवान् श्रीराम ने उन्हें अपने दिव्य स्वरूप का दो बार दर्शन दिया। अत: श्रीकुलशेखर जी एक महान् श्रीवैष्णव आलवार सन्त थे। सभी महापुरुषों ने उनके दिव्य चरित्र का अध्ययन कर अपने को महान् भाग्यशाली कहा है। जो इस आलवार के चरित्र को पढ़ते और सुनते हैं वे भगवान् एवं भागवतों के चरणों में निर्मल प्रेम प्राप्त कर मुक्ति के भाजन होते हैं।

शरणागति हेतु प्रभु से प्रार्थना

गिरा हूँ आ चरण में तो पड़ेगा राखना तुमहीं। टेक।

हौं यदि आपके हम जो यही वेदान्त गाता है। हमारी प्रार्थना सुननी पड़ेगी ही सभी तुमहीं।।१।।

सुनेहो द्रौपदी रोदन हटाये नाग के बन्धन। वही करुणा विवश होकर पड़ेगा तारना तुमहीं।।२।।

हमारे एक हो तुमहीं, न जानो और के कबहीं। हृदय में खोज देखोगे, मिलेगा सत्य ही तुमहीं।।३।।

अभय वरदान दीन्हों है, सुसाक्षी भाल बन्दर हैं, तथा माशुच वचन को भी, पड़ेगा राखना तुमहीं।।४।।

हमारी आपकी सब विधि, अनेको नातेदारी है। इसे ही दावदारी है, पड़ेगा मानना तुमहीं।।५।।

सर्वोपयोगी कल्याण का मार्ग

कृतेयत्ध्यायते विष्णु त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायाम् कलौ तद् हरिकीर्तनात् ।।

अर्थात् सतयुग में ध्यान करने से, त्रेता में यज्ञ करने से द्वापर में उपासना करने से जो फल प्राप्त होता था वही फल कलियुग में भगवत् नाम सङ्कीर्तन से प्राप्त होता है। इसीलिए देवता भी चाहते हैं कि हमें कलियुग में जन्म हो जिससे भगवत् नाम सङ्कीर्तन कर संसार के बन्धन से मुक्त हो जाएँ।

संसार के सारे प्राणी मन और इन्द्रियों के वश में होकर विषयों के भोग में लगे हुए हैं। मानव शरीर दुर्लभ है। इसे मोक्ष का द्वार कहा गया है। इसे पाकर भी इस भव सागर से पार करने के सरल उपाय भगवत् नाम सङ्कीर्तन का सहारा नहीं लेते। बल्कि भोगों को ही जीवन का साध्य मानकर उसी में लिप्त रहते हैं और जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़े रह जाते हैं। जो लोग अपने मन-इन्द्रियों को वश में करके नाम कीर्तन का सहारा लिया वे बहुत आसानी से जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर लिए। इस संदर्भ में यहाँ कुछ ऐसे भक्तों के बारे में बलताया जा रहा है।

किसी गाँव में एक कुम्भकार रहता था। अपनी जातिगत पेशा मिट्टी के वर्त्तन बनाने का काम करता था, वह लेकिन काम करते समय हमेशा भगवान् का नाम लेते रहता था। खेल से मिट्टी लाने का काम हो या चाक पर कलश, चुका, दीपक बनाना हो–चाक को डंडे से घुकाकर अपना काम करते रहता और अपने इष्ट भगवान् का नाम लेते रहता था। एक दिन उसके पास कई साधु-सन्त आ गए। अपने सारे परिवार के साथ वह कुम्भकार साधु-सन्तों की सेवा में लग गया। साधुओं के चले जाने के बाद पुन: अपने काम में लग गया और भगवान् का नाम लेते रहा। कुछ देर के बाद एकाएक वहाँ की जमीन धँस गई और वह कुम्भार भगवान् का नाम कीर्तन करते-करते जमीन के भीतर चला गया। लोगों को आशङ्का हुई कि वह तो अब मर ही गया। पर ध्यान देने पर पता चला कि भीतर से भगवान् के नाम की आवाज आ रही है और दूसरी आवाज झाल बजाने की। ऐसा लगा कि कुम्भार कीर्तन कर रहा है और भगवान् मग्न होकर झाल बजा रहे हैं। लोग मिट्टी हटा-हटाकर नीचे गए तो पाए कि भगवान् अन्तर्ध्यान हो गए हैं और वह कुम्भकार मुक्त हो गया है।

दूसरी कहानी एक नाई की है। वह भी अपने काम दाढ़ी हजामत बनाने के लिए स्तुरा और कैंची चलाते रहता और भगवान् का नाम लेते रहता था। एक दिन की बात है कि सुबह में ही उसके दरवाजे पर कुछ साधु आए। उसी समय नित्य उसे राज दरबार में जाकर राजा के दाढ़ी बनाने का काम रहता था। उस दिन वह राजा के पास न जाकर साधुओं की ही सेवा में लगा रहा। इधर भगवान् ने सोचा कि राजा नाराज होकर मेरे भक्त को दण्ड दे देगा। इसलिए भगवान् स्वयं नाई के वेश बनाकर राजा के पास गए और दाढ़ी बना दिए। साधुओं को विदा करके नाई डरते-डरते राज दरबार में गया तो राजा ने कहा कि तुम तो सुबह में ही दाढ़ी बनाकर गए हो तो दुबारा क्यों आया। नाई को ध्यान में आया कि भगवान् ने मेरे बदले आकर राजा की दाढ़ी बना दी। कहने लगा—ओ हो! मेरे चलते भगवान् को नाई बनना पड़ा, रोने लगा और आँख से झर-झर आँसू बहने लगी।

तीसरी कहानी गोपियों की है। वे भी अपने काम करती रहती और भगवत् नाम कीर्तन करते रहती थी। भोजन बनाना हो, बच्चों की सेवा, पति की सेवा, गौओं का दूध दुहते, मल्हानी से मट्ठा मथते हमेशा गाती रहती थी–'गोविन्द दामोदर माधवेति'। भगवान् ने उनका भी कल्याण किया।

इन उदाहरणों से हमें शिक्षा मिलती है कि जीवन के तरण-तारन के लिए 'कलियुग केवल नाम अधारा' ही है। आएँ और अपने मानव जीवन को सार्थक बनाएँ।

काम ही मानव का शत्रु है

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा कि आत्म स्वरूप विषयक ज्ञान में लगा हुआ पुरुष यह नहीं चाहता है कि कोई भी पापकर्म मुझसे हो फिर भी कभी-कभी बलात् किसी के द्वारा लगाये हुये की तरह विषय भोग रूप पाप कर्म में लग जाता है?

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।

(गीता-३.३६)

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! रजोगुण से काम की उत्पत्ति होती है। वह काम मानव को बलपूर्वक विषय भोग की ओर खींच लेता है। जब विषयभोग में बाधा पहुँचती है तब काम ही क्रोध के रूप में परिणत होकर साधक को परहिंसा आदि पापों में लगा देता है। अत: रजोगुण से उत्पन्न शब्दादि विषयों से सम्बन्ध रखने वाला और दुष्पुरणीय (जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती है) वह काम ही मानव का शत्रु है। वही आत्मचिन्तन से अलग कर देता है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।

(गीता-३.३७)

जैसे धूएँ से अग्नि, मल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढँका रहता है; वैसे ही काम से समस्त जीवात्मा का स्वरूप ढँका रहता है। ज्ञानियों का आत्म-स्वरूप विषयक ज्ञान काम से ढँका हुआ है। वह काम कभी तृप्त होने वाला नहीं है। अर्थात् इतना विषय भोगकर काम निवृत हो जायेगा यह नियम नहीं है बल्कि जितना विषय का भोग किया जाता है उतनी ही कामना बढ़ते जाती है। जैसे प्रज्वलित अग्नि में जितना घी दिया जाता है उतनी ही अग्नि की ज्वाला और बढ़ती है उसी प्रकार इन्द्रियों को विषय भोग जितना मिलता जाता है उतनी ही कामना तीव्र होती जाती है। अत: साधकों के लिए काम नित्य शत्रु है वह विशेष मोह उत्पन्न करते रहता है।

श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मन और बुद्धि–ये तीनों काम के आधान हैं। इन्हीं तीनों के द्वारा काम आत्म-विषयक ज्ञान को ढँककर आत्मा को विषय भोग में प्रवृत्त करा देता है। यह काम श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा आत्मा पर अपना आधिपत्य जमा लेता है इसलिए इन्द्रियाँ मन और बुद्धि–ये सब काम के अधिष्ठान आधार कहलाते हैं। काम इन्द्रिय मन और बुद्धि के द्वारा आत्मा के ज्ञान को ढँक लेता है। इसी कारण से विषयी जीवों को आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। कामी पुरुष सदा विषय भोग में ही तल्लीन रहता है उसे आत्मज्ञान से आनन्दानुभव होना सम्भव नहीं है।

जो साधक शब्दादि विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को रोककर ज्ञानयोग के लिए प्रयत्न करता है उसे काम बलात् विषय की ओर प्रेरित करके आत्मस्वरूप के अनुभव से वंचित कर देता है। इसलिए भगवान् ने अर्जुन से कहा कि तुम मोक्ष साधन के लिए सर्वप्रथम इन्द्रियों को विषयों की ओर से प्रेरित करने वाला काम का नाश करो अर्थात् अपने अन्दर लौकिक भोग का काम उत्पन्न मत होने दो, वह आत्मा-स्वरूप विषयक ज्ञान तथा आत्मा और प्रकृति विषयक विवेक रूप विज्ञान को नष्ट कर देने वाला है। जब तक काम रहता है तब तक ज्ञान-विज्ञान का उदय नहीं होता है।

इन्द्रियाँ मन बुद्धि और काम–ये सब ज्ञान के विरोधी हैं। ज्ञान प्राप्ति के विरोधियों में प्रधान इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ) हैं। इन्द्रियों को विषय में लग जाने के कारण आत्म विषयक ज्ञान नहीं होता है। इन्द्रियों से बढ़कर मन

ज्ञान का शत्रु है अगर इन्द्रियों को विषयों से अलग भी किया जाता है तो मन विषयों की ओर झुक जाता है। इसलिए इन्द्रियों से बलवान मन है। मन को विषय से अलग करने पर बुद्धि ज्ञान विरोधी विषयों में लग जाती है। इसलिए मन से प्रबल बुद्धि है। अर्थात् किसी भी काम का निश्चय बुद्धि करती है। जब बुद्धि ही विषय भोग की ओर प्रवृत्त हो जाती है तब आत्मस्वरूप विषयक ज्ञान कैसे हो सकता है? प्रत्युत जन्म जन्मान्तर का सञ्चित ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। दस इन्द्रियाँ मन और बुद्धि–इनसे भी बढ़कर ज्ञान का शत्रु काम है; क्योंकि वही ज्ञान के नाश में आदि कारण है। वह इन तीनों को विषयों की ओर खींच लाता है और आत्म-ज्ञान का नाश करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! इस प्रकार बुद्धि से काम को प्रबल समझकर मन को बुद्धि से कर्मयोग में लगाकर दुर्जय कामरूप शत्रु को मार डालो।

इन बातों से प्रतीत होता है कि ज्ञानयोग बहुत कठिन है। अत एव सर्वप्रथम कर्मयोग के अनुष्ठान से चित्त को शुद्ध करके काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो और कर्मयोग का निर्वाह करते समय ज्ञानयोग में प्रवृत्त हो अन्यथा कर्म-त्याग से चित्त में मलिनता बनी रहेगी। इसलिए कर्मफल की आसक्ति का त्यागकर कुलोचित कर्म करना चाहिए। तभी चित्तशुद्धि होगी और निर्मल चित्त से अत्मा का साक्षात्कार होगा।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।

(गीता-३.४३)

कौशिक ने समझा धर्म का मर्म

कौशिक नामक एक ब्राह्मण थे। वे अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेदशास्त्र एवं उपनिषदों के ज्ञाता थे। स्वाध्याय तथा वे तपस्या में निरन्तर लगे रहते थे। एक दिन एक वृक्ष के नीचे वे वेद पाठ कर रहे थे। उस वृक्ष के ऊपर एक बगुली बैठी हुई थी। उसने ऊपर से बिष्टा कर दी। वेद-पाठ में संलग्न कौशिक के ऊपर बिष्टा गिर पड़ी, जिससे क्रोधित होकर बगुली को कड़ी दृष्टि से उन्होंने देखा। उनकी दृष्टि के प्रभाव से बगुली वृक्ष से गिरकर मर गयी। कौशिक ने मृत बगुली को देखकर बड़ा पश्चात्ताप किया। इसके बाद कौशिक किसी गाँव में एक ब्राह्मण के घर भिक्षा के लिये गये। उस समय ब्राह्मण कहीं बाहर गये थे और ब्राह्मणी बर्तन साफ रही थी। तपस्वी कौशिक ने बाहर से भिक्षा माँगी। ब्राह्मणी भिक्षा का अन्न लेकर ब्राह्मण को देने के लिए तैयार होती है कि उसका पति घर आ गया। वह स्नान नहीं किया था तथा भूख-प्यास से पीड़ित था। ब्राह्मणी पतिव्रता थी। पतिव्रता उस नारी को कहते हैं, जो पति की आज्ञा का कभी उल्लङ्घन नहीं करती हुई पति की सेवा में सदा लगी रहती है। प्रतिव्रता नारी का जो भी काम होता है पति की प्रसन्नता के लिए होता है। पातिव्रत्य धर्म के प्रभाव से उसमें एक ऐसी विलक्षण शक्ति आ जाती है जैसी शक्ति समाधिस्थ होकर ब्रह्मचिन्तन करने वाले योगियों में होती है। वह पतिव्रता ब्राह्मणी भिक्षा का अन्न आँगन में ही रखकर पति की सेवा में लग गयी। पति को स्नान, भोजन आदि कराने के बाद भिक्षा का अन्न लेकर ब्राह्मणी द्वार पर कौशिक के पास आयी। महात्मा कौशिक ने कहा—ब्राह्मणि! मैं तुम्हारे द्वार पर बहुत देर से खड़ा हूँ तुमने मेरी उपेक्षा की यह उचित नहीं है। एक भिक्षुक ब्राह्मण तुम्हारे द्वार पर भिक्षा की आशा

में बैठा रहे और तुम उसे देखकर भी घर के कार्य में लगी रह जाओ यह धर्म तथा संस्कृति के विरुद्ध है। हमारा धर्मशास्त्र कहता है कि ***'अतिथि देवो भव'*** कोई भी अतिथि द्वार पर आ जाय तो सभी कर्मों को छोड़कर सर्वप्रथम उसकी सेवा करनी चाहिए; क्योंकि अतिथि देवतुल्य पूज्य होते हैं। यह सुनकर ब्राह्मणी ने कहा कि महात्मन्! मेरा अपराध क्षमा करें। मैं भिक्षा देने आ रही थी, उसी समय मेरे पति घर पर आ गये, वे भूख-प्यास से पीड़ित थे। स्त्री का धर्म पति को सुख देना है। अत: उनके स्नान, भोजन आदि सेवा में मैं लग गयी थी, इसलिये आपको भिक्षा देने में बिलम्ब हुआ। ब्राह्मणी की क्षमा-याचना पर भी महात्मा कौशिक क्रोध से जलने लगे। क्रोधावेश में बोलने लगे—हे ब्राह्मणि! तुम तपस्वी वेदज्ञ ब्राह्मण के प्रभाव को नहीं जानती हो, वे आग के समान होते हैं। उनका क्रोध समस्त पृथ्वी को भी जला सकता है। महात्मा कौशिक के क्रोधावेश से युक्त वचन को सुनकर पतिव्रता ब्राह्मणी बोली—मैं पक्षी नहीं हूँ, जिसे आप भस्म कर देंगे। मैं एक पतिव्रता स्त्री हूँ। आपका क्रोध मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। फिर भी मैं आपका अनादर न करके आप से क्षमा ही माँग रही हूँ। धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म होती है। धर्म का सही स्वरूप जनकपुर का एक धर्मव्याध जानता है। वह माता-पिता का सेवक, सत्यवादी और जितेन्द्रिय है। आप उसके पास जाकर धर्म के तत्त्व को समझें।

पतिव्रता के इस अपूर्व चमत्कार से महात्मा कौशिक आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगे कि एकान्त में एक वृक्ष के पास बगुली के मरने की घटना घटी है। दूसरा कोई जानता नहीं, एक मैं ही जानता हूँ। इस बात को ब्राह्मणी कैसे जान गई कि मेरी क्रोधभरी दृष्टि से बगुली जल गयी है। अवश्य ही पतिव्रता नारी अपने पति की सेवा के प्रभाव से परोक्ष घटना को भी प्रत्यक्ष देख ली है। कौशिक ब्राह्मण यह सोचते हुये कि मैं धर्मतत्त्व को समझने के लिए जनकपुर धर्मव्याध के पास कल अवश्य चलूँगा। अपने आश्रम को लौट गये। दूसरे दिन कौशिक मिथिला पहुँच गये। वहाँ धर्मव्याध का घर पता लगाये। कौशिक ने देखा कि धर्मव्याध कसाईखाने में बैठकर सूअर, भैंस आदि पशुओं का माँस बेच रहा है। वहाँ ग्राहकों की भीड़ लगी हुई थी, इसीलिए कौशिक एकान्त में जाकर खड़े हो गये। धर्मव्याध सतत माता-पिता की सेवा से विशेष शक्ति प्राप्त कर लिया था। उसके प्रभाव से वह परोक्ष की बातों को जान लेता था, इसीलिए धर्मव्याध जान गया कि एक ब्राह्मण यहाँ आये हैं। वह अपनी दुकान से उठकर ब्राह्मण के पास आकर उन्हें प्रणाम किया। फिर व्याध ने कहा कि आपको पतिव्रता नारी ने यह कहकर भेजा है कि आप धर्म का उपदेश लेने के लिए मिथिला में धर्मव्याध के पास जायें। धर्मव्याध की बात सुनकर महात्मा कौशिक के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। मन ही मन विचार करने लगे कि यह दूसरा आश्चर्य है।

धर्मव्याध ने कौशिक से कहा कि हे ब्राह्मण! यह स्थान आपके ठहरने योग्य नहीं है, अत: आप हमारे घर पर चलें। कौशिक धर्मव्याध के साथ उसके घर गये। वहाँ धर्मव्याध ने विधिवत् ब्राह्मण का पूजन किया। ब्राह्मण ने धर्मव्याध से कहा कि माँस बेचना तुम्हारे योग्य कर्म नहीं है। धर्मव्याध ने उत्तर दिया कि मैं जाति का व्याध हूँ यह कर्म हमारे पूर्वजों से चला आ रहा है। मैं अपने कुलोचित कर्म का पालन कर रहा हूँ। मेरा जातीय पेशा है माँस बेचना। मैं किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता, जातीय पेशा होने के कारण दूसरे के यहाँ से माँस खरीद कर लाता हूँ और बेचता हूँ। मैं अपने वृद्ध माता-पिता की सतत सेवा करता हूँ। यथाशक्ति दूसरों को दान देता हूँ और सदा सत्य बोलता हूँ।

मैं किसी से ईर्ष्या, द्वेष नहीं करता हूँ। दूसरे की निन्दा भी मुझे प्रिय नहीं लगती है। देवता, अतिथि को भोजन कराने के बाद भोजन करता हूँ।

कौशिक जी, ब्राह्मण का धर्म है जप, तप, स्वाध्याय एवं सत्य आदि का पालन करना। क्षत्रिय का धर्म है प्रजा-पालन करना। वैश्य का धर्म है कृषि और गो सेवा करना तथा शूद्र का धर्म है सबों की सेवा करना। स्त्री का धर्म है अपनी सेवा से सदा पति को प्रसन्न रखना। अपने धर्म-कर्म पालन से सबों का कल्याण होता है। जिसका जो कर्त्तव्यकर्म है उसका पालन करने से ही सिद्धि मिलती है। यह राजा जनक का नगर है। यहाँ कोई भी वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध आचरण नहीं करता। चारों वर्णों के लोग अपने-अपने कर्म को करते हैं। राजा जनक अपराध करने पर अपने परिवार को भी दण्ड देते हैं। मैं स्वयं माँस नहीं खाता हूँ। दिन में सदा उपवास और रात में मैं भोजन करता हूँ। स्वकर्त्तव्य पालन के कारण ही मुझे विशेष शक्ति मिल गयी है जिससे मैं जान गया कि आप अपनी क्रोधभरी दृष्टि से बगुली को जलाकर भस्म कर दिये हैं और पतिव्रता नारी के द्वारा धर्म की शिक्षा लेने के लिये मेरे पास भेजे गये हैं।

धर्मव्याध ब्राह्मण को अपने माता-पिता के पास ले गया और कहा कि ये ही मेरे देवता हैं। जो देवता के निमित्त पूजा की जाती है वह मैं इनके लिये करता हूँ। अपने माता-पिता के प्रति कभी भी अप्रियवचन नहीं बोलता हूँ। माता-पिता की सेवा ही पुत्र का परमकर्त्तव्य और सनातन धर्म है। अत: ब्राह्मण आप अपने माता-पिता का अनादर करके अपने घर से निकल आये हैं यह उचित नहीं है। आपका कोई भी धर्म-कर्म उनको सन्तुष्ट किये बिना सफल नहीं हो सकता है। अत: शीघ्र ही अपने माता-पिता के पास जाकर उन्हें सन्तुष्ट करें। कौशिक ने कहा कि धर्मव्याध तुम्हारे उपदेश से मेरे ज्ञाननेत्र खुल गये। अब मैं उपदेश के अनुसार कर्त्तव्य-कर्म का निरन्तर पालन करूँगा।

इस कथा से नारीवर्ग तथा पुरुषवर्ग दोनों को शिक्षा मिलती है। पतिव्रता स्त्री ब्राह्मणी से पातिव्रत्य धर्म की शिक्षा नारियों को लेनी चाहिए। आज की नारियाँ प्राय: शिक्षित होती हैं; परन्तु आचरण में पूर्ण अशिक्षित। अपने परिवार पर शासन करने की भावना सबों में भरी हुई है। पुरुषवर्ग को धर्मव्याध से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो अपने शुद्ध आचरणपूर्वक जातीय कर्म का पालन करता रहा, जिससे उसे एक दिव्य शक्ति प्राप्त हुई। वह तपस्वी ब्राह्मण को सन्मार्ग पर लाकर स्वयं भी कल्याण का भाजन बना।

अत एव भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के १८वें अध्याय में चारों वर्णों के कर्म को बतलाकर अपने-अपने कर्मों का पालन ही ईश्वर की उपासना है और उसी से सबों का कल्याण होता है ऐसा कहा है—

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: ।।

कार्यारम्भ होने पर आशौच का अभाव

व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्चने जपे। आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम्।
प्रारम्भे वरणं यज्ञे सङ्कल्पो व्रतसत्रयो:। नान्दी श्राद्धं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया।। (लघु०वि०पु०)

व्रत, यज्ञ, विवाह, श्राद्ध, होम, अर्चन, जप, आदि के आरम्भ हो जाने पर आशौच नहीं लगता है। यज्ञ का आरम्भ आचार्यादि-वरण से, व्रत का सङ्कल्प से, विवाहादि का नान्दी श्राद्ध से और श्राद्ध का आरम्भ पाक-क्रिया से समझा जाता है।

सीताजी की स्तुति

माता सीता जी की महिमा तीनों लोक में छायी हुई है। जब रघुनन्दन श्रीराम पिता की आज्ञा पालन करने के लिए मुनि वेष में वन में गए, तब सीताजी पत्नी होने के कारण पातिव्रत्य धर्म पालन के लिए श्रीराम के साथ वन में चली गयी। सीताजी ने श्रीराम के साथ वन में जाकर नारी समाज को शिक्षा दी कि पति से पत्नी को कभी भी अलग नहीं रहना चाहिए और पति के अनुकूल रहती हुई सदा उनकी सेवा में पत्नी को संलग्न रहना चाहिए।

वन में श्रीराम के साथ सीताजी रहती थी। एक दिन सीता की जाँघ पर सिर रखकर श्रीराम सोये हुए थे, उसी समय इन्द्र पुत्र जयन्त श्रीराम के बल की परीक्षा करने के लिए काक का वेष बनाकर सीता के पास आया और उन्हें चोंच से मारकर बेचैन कर दिया। सीताजी की छाती से रक्त का प्रवाहत होने लगा। श्रीराम की नींद खुल गयी। वे सीता की स्थिति को देखकर क्रोधित हो गए। जिस कुशासन पर वे बैठे थे, उस कुशासन से एक कुश निकालकर उन्होंने उसे मन्त्र से अभिमन्त्रित कर दिया। वह मन्त्र के प्रभाव से बाण की तरह जयन्त की ओर तेजी से बढ़ा, जयन्त समझ गया कि श्रीराम के छोड़े अस्त्र से मेरा प्राणान्त हो जायेगा, अत: वह भाग चला।

प्रथम वह अपने पिता इन्द्र के पास पहुँचा। जब इन्द्र उसकी रक्षा करने को तैयार नहीं हुए, तब वह ब्रह्मा, शङ्कर आदि की शरण में गया। ब्रह्मा आदि यह समझकर उसकी रक्षा नहीं कर सके कि यह राम से विरोध करके आया है, इसने महान् व जघन्य अपराध किया है। राम की प्रिय भार्या सीताजी को चोंच मारकर रक्त से सिञ्चित कर दिया है। जयन्त सर्वत्र से निराश होकर लौट रहा था, उस समय नारद जी ने उसे व्याकुल देखकर उपदेश दिया कि तुम श्रीराम के चरण में गिर जाओ। वे ही तुम्हारी रक्षा कर सकेंगे। नारद का उपदेश सुनकर जयन्त श्रीराम के चरणों में गिर पड़ा।

जयन्त ने सीताजी के प्रति अपराध किया था। इसलिए श्रीराम ने जयन्त को नहीं देखा। करुणामयी माता सीताजी ने उसे देखकर श्रीराम से कहा कि हे प्रभो! जयन्त की रक्षा कीजिए फिर भी श्रीराम ने जयन्त की ओर ध्यान नहीं दिया, तब करुणावश सीताजी ने जयन्त का सिर पकड़कर श्रीराम के चरणों में लगा दिया। श्रीराम यह समझ गये कि सीताजी पुरुषकार बनकर जयन्त की रक्षा करा देना चाह रही हैं। श्रीराम ने यह विचार किया कि मैंने तृण का बाण जयन्त का लक्ष्य करके छोड़ा, उसे व्यर्थ नहीं जाना चाहिए; क्योंकि मेरा बाण अमोघ है। दूसरी ओर सीताजी ने पुरुषकार बनकर जयन्त को मेरी शरण में लगा दिया है, यह शरणागति निष्फल नहीं होनी चाहिए। अत: भगवान् श्रीराम ने उस तृण बाण को जयन्त के दक्षिण नेत्र पर मारा, उससे जयन्त की दक्षिण आँख निष्क्रिय हो गयी। अत एव श्री आचार्य जी ने लिखा है—

तृण वान के लहर से वह प्राण विकल होकर।
चरणों में आ गिरा, तो शिर काक को बचायी।।

रावण-वध के बाद श्रीराम ने हनुमान जी को सीताजी के पास भेजा। हनुमान ने सीताजी को प्रणाम कर उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गए। तदनन्तर उन्होंने सीताजी से कहा—हे देवि। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं उन समस्त राक्षसियों को मार डालना चाहता हूँ; क्योंकि वे सब पहले आपको डराती धमकाती रही हैं। सीताजी ने कहा पवनकुमार! राक्षसराज रावण की आज्ञा से ही ये

मुझे धमकाया करती थीं। जब वह मारा गया, तब से ये बेचारी मुझे कुछ नहीं करती हैं।

श्रेष्ठ पुरुष दूसरों की बुराई करने वाले पापियों के पापकर्म के बदले में उनके साथ स्वयं भी पापपूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहते हैं। अत: सदाचार की रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि साधु पुरुष अपने उत्तम चरित्र से ही विभूषित होते हैं। सदाचार ही उनका भूषण है। श्रेष्ठ पुरुष को चाहिए कि कोई पापी हो या पुण्यात्मा अथवा वध के योग्य हो उन सब पर दया करें; क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिससे कोई अपराध नहीं होता है। सीताजी के कहने पर हनुमान जी ने राक्षसियों का वध नहीं किया। इसलिए आचार्य जी ने कहा—

जब चाहे बजरङ्गी सब निश्चरी संहारन।
तब करुणा बस में होकर सब को लई बचाई।।

भगवान् श्रीराम दण्डकारण्य में प्रवेश कर शरभङ्ग के आश्रम पर गये, वहाँ तपस्वी मुनियों ने श्रीराम से प्रार्थना की कि आप शरणागत वत्सल हैं, हमलोग आपके पास शरण लेने आये हैं। आप निशाचरों से हमलोगों की रक्षा करें। इस भूमण्डल में आपसे बढ़कर कोई रक्षक नहीं है। आप नारायण हैं। पृथ्वी का भार उतारने के लिए आपका अवतार हुआ है। पितृ वचन पालन को निमित्त बनाकर इस घोर वन में आप घूम रहे हैं। आपमें ही शरण्य गुण है। जगत् में अन्य किसी देव में न शरण्य गुण है और न वे शरणागत की रक्षा करने में समर्थ हैं। अत: हम ऋषि आपकी शरण में आये हैं। आप शरणागत रक्षक एवं करुणानिधि होने के कारण राक्षसों से हमारी रक्षा करें।

भगवान् ने उन ऋषियों से कहा कि मैं तपस्वी महात्माओं से शत्रुता करने वाले उन राक्षसों को युद्ध में संहार करना चाहता हूँ। आप सब महर्षिगण लक्ष्मण सहित मेरा पराक्रम देखें। श्रीराम के प्रतिज्ञा युक्त वचन सुनकर सीता ने उनसे कहा कि जगत् में काम से उत्पन्न तीन व्यसन होते हैं–मिथ्याभाषण, परस्त्रीगमन और विना बैर के ही दूसरे के प्रति क्रूरता-पूर्ण व्यवहार करना। आपमें मिथ्याभाषण और परस्त्रीगमन–ये दो दुर्व्यसन कभी नहीं हो सकते; परन्तु दूसरे प्राणियों की हिंसा रूप भयङ्कर दोष आपके सामने उपस्थित है। आपके प्रतिज्ञा पालन रूपी व्रत का विचार करके मैं यही सोचती रहती हूँ कि कैसे आपका कल्याण होगा? शस्त्रों का संयोग शस्त्रधारी के हृदय में विकार उत्पाकदक हो जाता है।

सीता के वचन सुनकर श्रीराम ने कहा कि मैंने मुनियों के सामने जो प्रतिज्ञा की है, उसे जीवित रहते हुये मिथ्या नहीं कर सकूँगा; क्योंकि सत्य का पालन हमें सदा प्रिय है। मैं अपना प्राण छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मण सहित तुम्हारा भी परित्याग कर सकता हूँ; परन्तु ऋषियों की रक्षा के लिए की गयी प्रतिज्ञा को कदापि नहीं छोड़ सकता। ऋषियों की रक्षा करना मेरा परम कर्त्तव्य है। श्रीराम के वचन सुनकर सीता रावण को उपदेश करने के लिए लङ्का चली गयी। अत एव आचार्यजी ने कहा—

श्रीराम की प्रतिज्ञा सुन मन में अकुलाई।
रावण को सिखाने को वह लङ्का में सिधाई।।

जैसे किसी का पिता अपने पुत्र पर क्रोधित होकर दण्डित करने के लिए तैयार हो जाता है, उस समय पत्नी अपने पति से प्रार्थना करती है कि आप इसे दण्ड न दें; परन्तु पत्नी की वचन से पति अपने पुत्र को दण्ड देने का सङ्कल्प नहीं छोड़ता है तब पत्नी अपने पुत्र को समझाकर अपराध से बचाने का प्रयास करती है। उसी प्रकार जगज्जननी माँ सीता ने राक्षस वध के लिए की गई राम की प्रतिज्ञा को लौटाने के लिए प्रार्थना की, जब जगत् पिता भगवान् श्रीराम अपने राक्षस वध की प्रतिज्ञा को छोड़ना नहीं चाहा, तब सीताजी ने विचार किया कि मैं ही लङ्का में चलकर रावण को समझा हूँ, जिससे वह गलत करना बन्द कर दे। अत: जानकी

जी ने लङ्का जाने का निर्णय कर लिया। उनकी प्रेरणा से रावण की भावना वदली वह सीता का हरण किया। सीताजी ने लङ्का में जाकर रावण को सन्मार्ग पर लाने का बहुत प्रसास किया; परन्तु रावण अपने गलत कर्म से विमुख होने को तैयार नहीं हुआ। तब सीताजी पश्चाताप करने लगी। इसीलिए आचार्य जी ने लिखा है—

रावण को सिखाने को वह लङ्का में सिधाई।
वह पापी नहीं माना तब मन में पछताई।।

रावण की मृत्यु के बाद विभीषण से अनुमति लेकर श्रीहनुमान जी सीताजी को राम के पास लाये। उस समय श्रीराम सीता को देखकर क्रोधित होकर बोले कि मेरे कुल के कलङ्क का मार्जन हो गया, मैंने रावण पर विजय पा ली, अब मेरी तुम्हारे प्रति ममता या आसक्ति नहीं है। अत: तुम जहाँ चाहो वहाँ जा सकती हो। रोष से भरे रघुनाथ जी का कठोर वचन सुरकर विदेह राजकुमारी सीता के मन में बड़ी व्यथा हुई। उनके नेत्रों से आँसुओं का अविरल प्रवाह चलने लगा।

तदनन्तर वह गद्‌गद वाणी में लक्ष्मण से बोली कि मेरे लिये चिता तैयार कर दो। मिथ्या कलङ्क से कलङ्कित होकर मैं जीवित नहीं रह सकती। श्री लक्ष्मण ने चिता तैयार कर दी। सीताजी राम की प्रदक्षिणा कर प्रज्ज्वलित अग्नि के पास जाकर अग्निदेव से कहा कि यदि मेरा हृदय कभी एक क्षण के लिए भी श्रीराम से दूर नहीं हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत् के साक्षी अग्निदेव सब ओर से मेरी रक्षा करें। ऐसा कहकर अग्नि में प्रवेश कर गई। तदनन्तर ब्रह्मादि देवों ने भगवान् श्रीराम से कहा—**'भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चचक्रायुधः प्रभुः'। 'सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुः'।**

अर्थात् आप चक्र धारण करने वाले सर्व समर्थ श्रीराम भगवान् नारायण देव हैं। सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु हैं। आप रावण का वध करने के लिए ही मुनष्य शरीर में प्रवेश किया है। सीता निर्मल है। तदनन्तर अग्निदेव मूर्त्तिमान होकर सीताजी को गोद में लिए चिता के ऊपर उठ गये। उन्होंने सीता की निर्मलता का परिचय दिया। तदनन्तर भगवान् श्रीराम सीता को लेकर अयोध्या आये। इसीलिए आचार्य जी ने कहा—**'दै आग की परीक्षा हरि सङ्ग अवध आई'।**

पुन: आचार्य जी ने कहा कि जब सीताजी की निर्हेतुकी कृपा दीनजन पर हुई, तब दीनों की दीनता निर्मूल हो गयी।

●

शीघ्र विवाह हेतु

देवेन्द्राणि नमस्तुभ्यं देवेन्द्रप्रियभामिनि।
विवाहं भाग्यमारोग्यं शीघ्र लाभं च देहि मे।।

तुलसी के समीप इस मन्त्र को प्रतिदिन १०८ बार जपना चाहिए।

विधि—जप के बाद किसी वर्तन में एक पाव गाय का दूध लेकर दाहिने हाथ में रखे तथा बायें हाथ में १ पाव पानी रखे, दोनों को लिये हुए तुलसी की प्रदक्षिणा करे। प्रदक्षिणा के समय ऊपर लिखा मन्त्र पढ़ते रहे। परिक्रमा पूरी होने पर दोनों हाथों के दूध एवं पानी से एक बार सूर्य को अर्घ्य देवें। इस तरह १२ बार करना चाहिए। इक्कीस दिनों तक यह विधि करने पर कन्या का शीघ्र विवाह होता है।

।। श्रीवैष्णवव्रत निर्णय तालिका 2018-19 ।।

	ceeme	he#e	deefLe	ebove	ebveeleâ	›deeeece
1.	चैत्र	शुक्ल	11	मंगलवार	27-03-2018	कामदा
2.	वैशाख	कृष्ण	11	गुरुवार	12-04-2018	बरुथिनी
3.	वैशाख	शुक्ल	11	गुरुवार	26-04-2018	मोहिनी
4.	शुद्ध ज्येष्ठ	कृष्ण	11	शुक्रवार	11-05-2018	अचला
5.	अधिक ज्येष्ठ	शुक्ल	11	शुक्रवार	25-05-2018	पुरुषोत्तमी
6.	अधिक ज्येष्ठ	कृष्ण	11	रविवार	10-06-2018	पुरुषोत्तमी
7.	शुद्ध ज्येष्ठ	शुक्ल	11	रविवार	24-06-2018	निर्जला
8.	आषाढ़	कृष्ण	11	सोमवार	09-07-2018	योगिनी
9.	आषाढ़	शुक्ल	11	सोमवार	23-07-2018	श्री विष्णुशयनी
10.	श्रावण	कृष्ण	11	मंगलवार	07-08-2018	कामदा
11.	श्रावण	शुक्ल	11	बुद्धवार	22-08-2018	पुत्रदा
12.	भाद्रपद	कृष्ण	11	गुरुवार	06-09-2018	जया
13.	भाद्रपद	शुक्ल	11	गुरुवार	20-09-2018	पद्मा
14.	आश्विन	कृष्ण	11	शुक्रवार	05-10-2018	इन्दिरा
15.	आश्विन	शुक्ल	11	शनिवार	20-10-2018	पापाङ्कुशा
16.	कार्त्तिक	कृष्ण	12	रविवार	04-11-2018	रम्भा
17.	कार्त्तिक	शुक्ल	11	सोमवार	19-11-2018	प्रबोधिनी
18.	मार्गशीर्ष	कृष्ण	11	सोमवार	03-12-2018	उत्पन्ना
19.	मार्गशीर्ष	शुक्ल	11	मंगलवार	18-12-2018	मोक्षदा
20.	पौष	कृष्ण	11	मंगलवार	01-01-2019	सफला
21.	पौष	शुक्ल	11	गुरुवार	17-01-2019	पुत्रदा
22.	माघ	कृष्ण	11	गुरुवार	31-01-2019	षट्तिला
23.	माघ	शुक्ल	12	शनिवार	16-02-2019	जया
24.	फाल्गुन	कृष्ण	11	शनिवार	02-03-2019	विजया
25.	फाल्गुन	शुक्ल	11	रविवार	17-03-2019	आमलकी
26.	चैत्र	कृष्ण	12	सोमवार	01-04-2019	पापमोचनी
1.	चैत्र	शुक्ल	दशमी	सोमवार	26-03-2018	श्रीरामनवमी व्रत
2.	वैशाख	शुक्ल	षष्ठी	शनिवार	21-04-2018	श्रीरामानुजाचार्य जयन्ती
3.	वैशाख	शुक्ल	चतुर्दशी	रविवार	29-04-2018	श्रीनृसिंह चतुर्दशी व्रत
4.	भाद्रपद	कृष्ण	अष्टमी	सोमवार	03-09-2018	श्रीकृष्ण जन्माष्टमी व्रत
5.	फाल्गुन	शुक्ल	त्रयोदशी	मंगलवार	19-03-2019	श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जयन्ती